हिन्दी त्रैमासिक

# विवेक-ज्योति

वर्ष ३६ अंक ४

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

**हिन्दी त्रैमासिक**

**अक्टूबर–नवम्बर–दिसम्बर**
**• १९९८ •**

प्रबन्ध सम्पादक तथा व्यवस्थापक

**स्वामी सत्यरूपानन्द**

सम्पादक

**स्वामी विदेहात्मानन्द**


वार्षिक २०/- | वर्ष ३६ अंक ४ | एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-



**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम**

**रायपुर – ४९२ ००१ (म.प्र.)**

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

रामकृष्ण मठ एवं मिशन के महाध्यक्ष

# स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज की महासमाधि

यह सूचित करते हुए हमें अतीव खेद हो रहा है कि रामकृष्ण संघ के बारहवें महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने ९७ वर्ष की आयु में, १० अगस्त, १९९८ को दोपहर २.२८ बजे कलकत्ते के कोठारी अस्पताल में महासमाधि ग्रहण कर ली । पिछले ५ अगस्त को उदर-रोग के उपचारार्थ वे पीयरलेस अस्पताल में भरती हुए थे । तदुपरान्त ७ अगस्त को उन्हें कोठारी अस्पताल में ले जाया गया और उसी रात उनका ऑपरेशन भी हुआ । परन्तु इसके बाद से उनकी हालत बिगड़ती गयी और दो दिनों बाद ही वे शान्तिपूर्वक ब्रह्मलीन हुए ।

श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज का जन्म सन् १९०१ में पश्चिमी बंगाल के बाँकुड़ा जिले के अन्तर्गत 'सोमसाड़ा' गाँव में हुआ था । इनके बचपन का नाम 'विजयचन्द्र राय' था । कलकत्ते के शासकीय संस्कृत कॉलेज से संस्कृत तथा दर्शन में स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के कुछ काल बाद, १९२३ ई. में वे भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य और संघ के प्रथम सचिव श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी महाराज से मंत्रदीक्षा लेकर मठ में सम्मिलित हो गये । संघ के द्वितीय महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी शिवानन्दजी महाराज से संन्यास मिला । माँ श्रीसारदादेवी तथा श्रीरामकृष्ण के कुछ अन्य पार्षदों के सान्निध्य में आने का भी उन्हें सौभाग्य मिला था । रामकृष्ण संघ के 'मानवरूपी ईश्वर की सेवा' के आदर्श से अनुप्राणित होकर महाराज ने मिशन के ढाका, मैसूर, मद्रास, शिलांग, राजकोट तथा काँकुड़गाछी आदि केन्द्रों में विभिन्न प्रकार के सेवा-कार्यों में योगदान किया । १९६५ ई. में उन्हें रामकृष्ण मठ का ट्रस्टी तथा मिशन की कार्यकारी समिति का सदस्य और अगले ही वर्ष वे मठ तथा मिशन के सह-सचिव निर्वाचित किया गया था । १९७५ से वे संघ के उपाध्यक्ष तथा १९८९ से महाध्यक्ष का पद सुशोभित करते रहे ।

वे शास्त्रों में निष्णात एक प्रकाण्ड विद्वान तथा गहन विचारक थे । पूज्यपाद महाराज में हमें एक सर्वोच्च कोटि के आध्यात्मिक व्यक्तित्व की झलक मिलती है। उप-महाध्यक्ष तथा महाध्यक्ष के रूप में उन्होंने 'नव-वेदान्त' का सन्देश लेकर देश-विदेश के अनेक स्थानों का दौरा किया । वे हजारों के प्रेरणास्रोत थे और एक लाख से भी अधिक प्रार्थियों को उन्होंने मंत्रदीक्षा प्रदान की थी । अपनी शिशुवत सरलता, सौहार्द्रता तथा पितृवत स्नेह के द्वारा उन्होंने अपने सम्पर्क में आनेवाले सहस्रों लोगों के हृदय में स्थान बना लिया था । पिछले लगभग दस वर्षों के दौरान वे बेलूड़ मठ में निवास करते हुए पूरे संघ के आध्यात्मिक ज्योति-स्तम्भ बने रहे ।

## विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(११६ वीं तालिका)

४१८१. श्री नानाजीभाई अम्बाभाई छाया, मेंदरणा, जूनागढ़ (गुज.)
४१८२. ग्रंथपाल, विवेकानन्द ग्रंथालय, अमरावती (महाराष्ट्र)
४१८३. श्री श्याम सुन्दर भाटी, रतलाम (म. प्र.)
४१८४. डॉ. शीला जैन, बिकानेर (राज.)
४१८५. श्री ओमप्रकाश कुन्दनलाल वर्मा, इन्दौर (म. प्र.)
४१८६. श्री ईश्वर कुमार पटेल, मुकुटनगर, दुर्ग (म. प्र.)
४१८७. श्रीमती कुसुम जैन, कवर्धा, राजनांदगांव (म. प्र.)
४१८८. श्री एच. के. केजरीवाल, मुम्बई (महाराष्ट्र)
४१८९. श्री होमेश्वर वशिष्ठ, दिल्ली
४१९०. श्री शेरसिंह चन्देल, कोड़ामाठ, जांजगीर (म. प्र.)
४१९१. श्री शिरीष कुमार, माधवपुर, जूनागढ़ (गुजरात)
४१९२. श्री योगेश कुमार थलिया, नवलगढ़, झुंझुनू (राज.)
४१९३. श्री पी. एल. साहू, लखौली, रायपुर (म. प्र.)

## मुखपृष्ठ का परिचय

इस वर्ष के मुखपृष्ठ पर रामकृष्ण मठ तथा मिशन के प्रतीक-चिह्न मुद्रित किया गया है । स्वामी विवेकानन्द ने इसमें अत्यन्त सुन्दर ढंग से श्रीरामकृष्ण तथा उनके सन्देश को रूपायित किया है। इसका तात्पर्य उन्हीं के शब्दों में – "सूर्य= ज्ञान; तरंगायित जल = कर्म; पद्म = प्रेम; सर्प= योग; हंस= आत्मा; उक्ति (तन्नो हंसः प्रचोदयात्) = हंस अर्थात परमात्मा हमें ये प्रदान करें।" एक अन्य समय उन्होंने बताया था, "चित्र में तरंगायित जलसमूह कर्म का, कमलसमूह भक्ति का और उदीयमान सूर्य ज्ञान का प्रतीक है । चित्र में साँप का घेरा योग तथा जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति का द्योतक है और चित्र के बीच में जो हंस की मूर्ति है उसका अर्थ है परमात्मा । अतः कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग के साथ सम्मिलित हेने से ही परमात्मा का दर्शन होता है – यही चित्र का अर्थ है ।"

## ग्राहकों को सूचना

(१) 'विवेक-ज्योति' के पाठकों को यह जानकर हर्ष होगा कि आगामी जनवरी से यह पत्रिका मासिक होने जा रही है। इसके प्रति अंक का मूल्य रु. ५, वार्षिक शुल्क रु. ५० तथा आजीवन (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७०० निर्धारित हुआ है। जिन वार्षिक ग्राहकों का चन्दा इस चौथे अंक के साथ समाप्त हो रहा है, उनसे अनुरोध है कि अगले वर्ष के लिए सहयोग राशि रु. ५०/- ही भेजें। मनिआर्डर फार्म इस अंक के साथ भेजा जा रहा है ।

(२) जिन आजीवन ग्राहकों ने इसके पूर्व १००, २०० या ३०० रुपये की दर से ग्राहकता शुल्क जमा किये हैं, उनसे अनुरोध है कि वे अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए बाकी राशि बैंकड्राफ्ट या धनादेश के द्वारा का यथाशीघ्र (एक वर्ष के भीतर) भेज दें। ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर' के नाम बनवायें। भेजी जाने-वाली बाकी राशि का विवरण इस प्रकार है —

| | | |
|---|---|---|
| ग्राहक संख्या | ९१४ से ३४१४ तक | रु. ६००/- |
| ग्राहक संख्या | ३४१५ से ३९२५ तक | रु. ५००/- |
| ग्राहक संख्या | ३९२६ से ४१९३ तक | रु. ४००/- |

आपकी ग्राहक संख्या इस अंक के रैपर पर भी छपी है।

(३) जिन पुराने आजीवन ग्राहकों की बाकी राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायगी, उन्हें जनवरी (९९) से पच्चीस वर्षों के लिए आजीवन सदस्य बना लिया जायगा। नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने की हालत में प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क आजीवन ग्राहकों की जमाराशि में से काट लिया जायगा।

— *व्यवस्थापक*

# अनुक्रमणिका




मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्टूबर–नवम्बर–दिसम्बर

◆ १९९८ ◆

वर्ष ३६ अंक ४

## वृद्धावस्था का मोह

**निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोऽपि गलितः**
**समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।**
**शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने**
**अहो मूढः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥**

अन्वय – भोग-इच्छा (जागतिक विषयों को भोगने की इच्छा) निवृत्ता (दूर हो चुकी है), पुरुष-बहु-मानः-अपि (लोगों द्वारा मुझे दिया जानेवाला मान-सम्मान भी) गलितः (घट चुका है) जीवित-समाः (प्राणतुल्य) सुहृदः (स्वजन) स-मानाः (समवयस्क) सपदि (हाल ही में) स्वः-याता (स्वर्ग सिधार चुके हैं), शनैः (धीरे धीरे अब) यष्टि-उत्थानं (छड़ी के सहारे ही उठना हो पाता है), नयने च (और आँखें भी) घन-तिमिर-रुद्धे (घने अन्धकार से रुद्ध हो रही हैं)। अहो! (अहा!) तत् अपि (इसके बावजूद) (मेरा यह) मूढः (मूर्ख) कायः (शरीर) मरण-अपाय-चकितः (मृत्यु का विचार आते ही चौंक उठता है) ।

अर्थ – जागतिक विषयों को भोगने की इच्छा दूर हो चुकी है, लोगों द्वारा मुझे दिया जानेवाला मान–सम्मान भी घट चुका है, प्राणतुल्य समवयस्क मित्र हाल ही में स्वर्ग सिधार चुके हैं, अब धीरे धीरे छड़ी के सहारे ही उठना हो पाता है, आँखें भी घने अन्धकार से रुद्ध हो रही हैं । (तथापि) अहा! इसके बावजूद मेरा यह मूर्ख शरीर मृत्यु का विचार आते ही चौंक उठता है ।

– **भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, ९**

# सारदा-वन्दना

– १ –

( शिवरंजनी-रूपक )

कर दया माँ सारदे, ले गोद निज सन्तान को,
लौट आया हूँ गया था, भोग-सुख सन्धान को ।।

ना मिला मुझको कहीं पर, स्नेह का आभास भी,
अब समझ में आ चुका है, सब जननि तव पास ही,
अलविदा हूँ कर चुका, भव के पतन-उत्थान को ।।

मोह-ममता-कामनाएँ जा चुकीं हैं चित्त से,
अब जननि तव संग ही क्रीड़ा करूँगा नित्य मैं,
पूर्ण कर अन्तर की आशा, तृप्त कर मन-प्राण को ।।

अब अकेला छोड़ना मत, गर्त में संसार के,
बाँध रखना बेड़ियों से, स्नेह और दुलार के,
चिर-पिपासित है मेरा मन, पय-पयोधर पान को ।।

– २ –

( अहीरभैरव-रूपक )

रामकृष्ण स्नेह–सुरसरि सारदा आयी ।
शान्ति की वारि निर्झर, विश्व मन भायी ।।

राजती वैकुण्ठ में जो, विष्णु की अर्धांगिनी हो,
रूप लेकर मानवी वो, सारदा आयी ।।

जगत का दुखभार हरने, धर्म का उद्धार करने,
तृषित जन के प्राण भरने, सारदा आयी ।।

देख सबकी दुर्दशा अति, द्रवित हो सन्तान के प्रति,
बोध देकर फेरने मति, सारदा आयी ।

*– विदेह*

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

काश्मीर,
२५ अगस्त, १८९८

प्रिय मार्गट,

गत दो महीनों से मैं अकर्मण्य का सा जीवन बिता रहा हूँ। भगवान की दुनिया में जिसे उज्ज्वल सौन्दर्य की पराकाष्ठा मानी जाती है, उसके अन्दर होकर प्रकृति के इस नैसर्गिक उद्यान में – जहाँ पृथ्वी, वायु, भूमि, तृण, गुल्मराजि, वृक्षश्रेणी, पर्वतमालाएँ, हिमराशि तथा नरदेह के कम-से-कम बाहरी हिस्सों में भगवत्सौन्दर्य अभिव्यक्त हो रहा है – मनोहर झेलम के वक्षस्थल पर नाव में तैर रहा हूँ। वही मेरा मकान है; और कर्म से मैं प्रायः मुक्त हूँ – यहाँ तक कि पढ़ना-लिखना भी नहीं जैसा ही है; अब जैसा मिल रहा है, उसी से उदरपूर्ति की जा रही है, मानो रिप-वान-विंकल के साँचे में ढला हुआ जीवन है !

कार्य के बोझ से अपने को समाप्त न कर डालना। उससे कोई लाभ होने का नहीं; सदा यह ख्याल रखना कि 'कर्तव्य मानो मध्याह्नकालीन सूर्य है और उसकी तीक्ष्ण किरणों से जीवनी-शक्ति क्षीण हो जाती है'। साधना की दृष्टि से उसका मूल्य अवश्य है, परन्तु उससे अधिक अग्रसर होने पर वह एक दुःस्वप्न मात्र है ! चाहे हम जागतिक कार्यों में हाथ बटावें अथवा नहीं, जगत तो अपनी चाल से चलता ही रहेगा। हम तो मोहान्धकार में केवल अपने को चकनाचूर कर डालते हैं। एक प्रकार की भ्रान्त धारणा निःस्वार्थ भाव का मुखौटा लगाकर उपस्थित होती है; किन्तु सब प्रकार के अन्याय के सम्मुख नतमस्तक होकर अन्त में वह दूसरों का अनिष्ट ही करती है। अपने निःस्वार्थ भाव से दूसरों को स्वार्थी बनाने का हमारा कोई अधिकार नहीं है – क्या ऐसा अधिकार हमें प्राप्त है ?

तुम्हारा
**विवेकानन्द**

— २ —

(श्री मृणालिनी वसु को लिखित)

देवघर (वैद्यनाथ)
२३ दिसम्बर, १८९८ ई०

माँ,

तुम्हारा पत्र पाकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। तुम जो समझी हो, वह ठीक है। **स ईशोऽनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः** – ईश्वर वाणी से परे तथा प्रेमस्वरूप है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि नारद द्वारा वर्णित ईश्वर का यह लक्षण स्पष्ट और सब लोगों को स्वीकार्य है। बहुत से व्यक्तियों का समूह को समष्टि कहते हैं और प्रत्येक व्यक्ति व्यष्टि कहलाता है। तुम और मैं – दोनों व्यष्टि हैं, समाज समष्टि है। तुम और मैं – पशु, पक्षी, कीड़ा, कीड़े से भी छोटे जीव, वृक्ष, लता, पृथ्वी, नक्षत्र और तारे – इनमें से प्रत्येक व्यष्टि है और यह विश्व समष्टि है, जो वेदान्त में विराट, हिरण्यगर्भ या ईश्वर कहलाता है और पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, देवी, इत्यादि।

व्यष्टि को व्यक्तिगत स्वतंत्रता होती है या नहीं और यदि होती है तो उसका नाम क्या होना चाहिए, व्यष्टि को समष्टि के लिए अपनी इच्छा तथा सुख का पूर्णतः त्याग करना चाहिए या नहीं – ये प्रत्येक समाज की चिरन्तन समस्याएँ हैं। सभी स्थानों में समाज इन समस्याओं के समाधान में लगा रहता है। ये बड़ी बड़ी तरंगों के समान आधुनिक पश्चिमी समाज में हलचल मचा रही हैं। जो समाज के आधिपत्य के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता का त्याग चाहता है, उस सिद्धान्त को समाजवाद और जो व्यक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, उसे व्यक्तिवाद कहते हैं।

समाज का व्यक्ति पर निरन्तर शासन और संस्था व नियमबद्धता के द्वारा बलपूर्वक आत्मत्याग और इसके परिणाम तथा फल का ज्वलन्त उदाहरण – यही हमारी मातृभूमि है। इस देश में शास्त्रीय आज्ञानुसार मनुष्य जन्म लेते हैं, वे नियम-विधि से आजीवन खाते-पीते हैं, और विवाह तथा विवाह-सम्बन्धी कार्य भी इसी प्रकार करते हैं। यहाँ तक कि शास्त्रों के नियमानुसार ही वे मरते भी हैं।

एक विशेष गुण को छोड़कर यह कठिन नियमबद्धता दोषों से परिपूर्ण है। गुण यह है कि बहुत थोड़े यत्न से मनुष्य एक या दो काम अति उत्तम रीति से कर सकते हैं, क्योंकि कई पीढ़ियों से उस काम का दैनिक अभ्यास होता है। जो स्वादिष्ट शाक और चावल इस देश के रसोइया तीन मिट्टी के ढेलों तथा कुछ लकड़ियों की

सहायता से तैयार कर सकते हैं, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। एक रुपये मूल्य के बहुत पुराने समय के करघे जैसे सरल यंत्र की सहायता से, गड्ढे में पैर रखकर २० रुपये गज की मलमल बनाना केवल इसी देश में सम्भव हो सकता है। एक फटा टाट और रेंडी के तेल से जलाया हुआ मिट्टी का दिया – ऐसे पदार्थों की सहायता से केवल इसी देश में अद्‌भुत विद्वान उत्पन्न होते हैं। कुरूप और विकृत पत्नी के प्रति असीम सहनशीलता तथा दुष्ट और अयोग्य पति के प्रति आजन्म भक्ति, यह भी इसी देश में सम्भव है। यह तो हुआ उज्ज्वल पक्ष।

परन्तु यह काम वे लोग करते हैं, जिनका जीवन निर्जीव यंत्र के समान व्यतीत होता है। उनमें मानसिक क्रिया नहीं है, उनके हृदय का विकास नहीं होता, उनका जीवन स्पन्दनहीन है, आशा का प्रवाह बन्द है, उनमें इच्छाशक्ति की कोई प्रबल उत्तेजना नहीं है, सुख का तीव्र अनुभव नहीं है, न प्रचण्ड दुःख ही उन्हें स्पर्श करता है; उनकी प्रतिभाशाली बुद्धि को निर्माण-शक्ति कभी उद्वेलित नहीं करती, नवीनता की कोई अभिलाषा नहीं हैं, और न नयी वस्तुओं के प्रति आदर-भाव ही है। उनके हृदयाकाश के बादल कभी नहीं हटते, प्रातःकालीन सूर्य की छवि उनके मन को मुग्ध नहीं करती। उनके मन में कभी नहीं आता कि इससे अच्छी भी कोई अवस्था हो सकती है, यदि ऐसा विचार आता भी है तो विश्वास नहीं होता, विश्वास होता है, तो उद्योग नहीं हो पाता। और उद्योग होने पर उत्साह का अभाव उसे मार देता है।

यदि यह निश्चित है कि नियमपूर्वक रहने से प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है, यदि परम्परा से चली आयी हुई प्रथा का कठोरता से पालन करना पुण्य है, तब बताइए कि वृक्ष से बढ़कर पुण्यात्मा कौन हो सकता है, और रेलगाड़ी से बढ़कर भक्त और महात्मा कौन है ? किसने पत्थर के टुकड़े को प्रकृति का नियमोल्लंघन करते हुए देखा है ? किसने गाय-भैंस को पाप करते हुए जाना है ?

यंत्रचालित अति विशाल जहाज और महाबलवान रेल का इंजन जड़ है, वे हिलते हैं और चलते हैं, परन्तु जड़ हैं। और वह जो दूर से नन्हा-सा कीड़ा अपने जीवन की रक्षा के लिए रेल की पटरी से हट गया, वह क्यों चैतन्य है ? यंत्र में इच्छा-शक्ति का कोई विकास नहीं है। यंत्र कभी नियम का उल्लंघन करने की कोई इच्छा नहीं रखता। कीड़ा नियम का विरोध करना चाहता है और नियम के विरुद्ध जाता है, चाहे उस प्रयत्न में वह सिद्धि लाभ करे या असिद्धि, इसलिए वह चेतन है। जिस अंश में इच्छा-शक्ति के प्रकट होने में सफलता होती है, उसी अंश में

सुख अधिक होता है और जीव उतना ही ऊँचा होता है। परमात्मा की इच्छा-शक्ति पूर्णरूप से सफल होती है, इसलिए वह उच्चतम है।

शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन-मात्र है? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है? नहीं, वह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायी होता है, वह शिक्षा कहलाती है। अब सोचो कि शिक्षा क्या वह है, जिसने इच्छाशक्ति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरन्तर रोककर प्रायः नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही छोड़ो, पुराने विचार भी एक एक करके लोप होते चले जा रहे हैं; क्या यह शिक्षा है, जो मनुष्य को धीरे धीरे यंत्र बना रही है? मेरे मतानुसार जो स्वयचालित यंत्र के समान सुकर्म करता है, उसकी अपेक्षा अपनी स्वतत्र इच्छाशक्ति और बुद्धि के बल से अनुचित कर्म करनेवाला श्रेयस्कर है। जो लोग मिट्टी के पुतले, निर्जीव यंत्र या पत्थरों के ढेर के सदृश हों, क्या उनका समूह समाज कहला सकता है? ऐसा समाज भला कैसे उन्नत हो सकता है? यदि इस प्रकार कल्याण सम्भव होता, तो सैकड़ों वर्ष से दास होने के बदले हम पृथ्वी के सबसे प्रतापी राष्ट्र होते और भारत मूर्खता की खान होने के बदले, विद्या के अनन्त स्रोत का उत्पत्ति-स्थान होता।

तो क्या आत्मत्याग एक गुण नहीं है? बहुतों के सुख के लिए एक आदमी के सुख को बलिदान करना क्या सर्वश्रेष्ठ पुण्य नहीं है? अवश्य है, परन्तु बँगला कहावत के अनुसार 'क्या घिसने-माँजने से रूप उत्पन्न हो सकता है? क्या धरने-बाँधने से प्रीति होती है?' जो सदैव ही भिखारी है, उसके त्याग में क्या गौरव? जिसमें इन्द्रिय-बल न हो, उसके इन्द्रिय-संयम में क्या गुण? जिसमें विचार का अभाव हो, हृदय का अभाव हो, उच्च अभिलाषा का अभाव हो, जिसमें समाज कैसे बनता है – इस कल्पना का भी अभाव हो, उसका आत्मत्याग ही क्या हो सकता है? विधवा को बलपूर्वक सती करवाने में किस प्रकार के सतीत्व का विकास दिखायी पड़ता है? अन्धविश्वासों की शिक्षा देकर लोगों से पुण्यकर्म क्यों करवाते हो? मैं कहता हूँ – मुक्त करो; जहाँ तक हो सके लोगों के बन्धन खोल दिये जायँ। क्या कीचड़ से कीचड़ धोया जा सकता है? क्या बन्धन से बन्धन को हटाया जा सकता है? ऐसा उदाहरण कहाँ है? जब तुम समाज के लिए सुख की कामना त्याग सकोगी, तब तुम भगवान बुद्ध बन जाओगी, मुक्त हो जाओगी, परन्तु वह दिन दूर है। फिर, क्या तुम समझती हो कि अत्याचार द्वारा वह प्राप्त हो

सकता है ? 'अरे, हमारी विधवाएँ आत्मत्याग का कैसा उदाहरण होती हैं ! बालविवाह कैसा मधुर होता है ! ऐसी कोई दूसरी प्रथा हो सकती है ? ऐसे विवाह में पति-पत्नी में प्रेम को छोड़कर अन्य कोई भाव हो सकता है !!' दबी आवाज में यह विलाप चारों ओर से सुनायी देता है। परन्तु पुरुषों को, जिन्हें इस अवस्था में प्रभुत्व प्राप्त है, आत्मसंयम की आवश्यकता नहीं ! दूसरों की सेवा से बढ़कर कोई गुण हो सकता है ? परन्तु यह तर्क ब्राह्मणों पर लागू नहीं है — दूसरे लोग उसे करें ! सच तो यह है कि इस देश में माता-पिता और सम्बन्धी अपने स्वार्थ के लिए, और समाज के साथ एक प्रकार का समझौता करके स्वयं को बचाने के लिए, अपनी सन्तान तथा दूसरों के कल्याण को निष्ठुरतापूर्वक बलिदान कर देते हैं और पीढ़ियों से चली आनेवाली ऐसी शिक्षा ने उनके मन को ऐसा थोथा बना दिया है कि यह कार्य बहुत आसानी से हो जाता है।

जो वीर है, वही सचमुच आत्मत्याग कर सकता है। कायर, कोड़े के डर से, एक हाथ से आँसू पोंछता है और दूसरे हाथ से दान देता है। ऐसे दान का क्या उपयोग ? विश्वव्यापी प्रेम इससे बहुत दूर है। छोटे पौधों को चारों ओर से रूँधकर सुरक्षित रखना चाहिए। यदि एक व्यक्ति से निःस्वार्थ प्रेम करना सीखा जाय, तो यह आशा की जा सकती है कि धीरे धीरे विश्वव्यापी प्रेम उत्पन्न हो जायगा ! यदि एक विशेष इष्टदेवता की भक्ति प्राप्त हो सकती है, तो सर्वव्यापक विराट से धीरे धीरे प्रेम उत्पन्न होना सम्भव है।

इसलिए जब हम एक व्यक्ति के लिए आत्मत्याग कर सकें, तब समाज के लिए आत्मत्याग की चर्चा करनी चाहिए, उससे पहले नहीं। सकाम बनने से ही निष्काम बना जा सकता है। आरम्भ में यदि कामना न होती, तो उसका त्याग कैसे होता ? और उसका अर्थ भी क्या होता ? यदि अन्धकार न होता, तो प्रकाश का क्या अर्थ हो सकता था ? सप्रेम सकाम उपासना पहले आती है। छोटे की उपासना आरम्भ करो, बड़े की उपासना स्वयं आ जायेगी।

माँ, तुम चिन्तित मन होना। प्रबल वायु बड़े वृक्षों से ही टकराती है। 'अग्नि को कुरेदने से वह अधिक प्रज्वलित होती है। साँप के सिर पर आघात करने पर वह फन उठाता है' आदि। जब हृदय में पीड़ा उठती है, जब शोक की आँधी चारों ओर से घेर लेती है, जब मालूम होता है कि प्रकाश फिर कभी न होगा, जब आशा और साहस का प्रायः लोप हो जाता है, तब इस भयंकर आध्यात्मिक तूफान में ब्रह्म की

अन्तर्ज्योति चमक उठती है। वैभव की गोद में पला हुआ, फूलों में पोसा हुआ, जिसने कभी एक आँसू भी नहीं बहाया, ऐसा कोई व्यक्ति क्या कभी बड़ा हुआ है, उसका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव कभी व्यक्त हुआ है? तुम रोने से डरती क्यों हो? रोना मत छोड़ो! रोने से नेत्रों में निर्मलता आती है और अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। उस समय भेद की दृष्टि – मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि धीरे धीरे लोप होने लगते हैं और सभी स्थानों और सब वस्तुओं में, अनन्त ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है। तब –

**समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।**
**न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥**

– 'सर्वत्र ही ईश्वर को समभाव से उपस्थित देखकर वह आत्मा को आत्मा से हानि न पहुँचाकर परमगति को प्राप्त करता है।'

सदैव तुम्हारा शुभचिन्तक,

विवेकानन्द

## सुख-दुख की उपयोगिता

सुख-भोग के भीतर भी गरिमा है और दुख-भोग के भीतर भी। यदि साहस करके कहा जाय, तो यह भी कह सकते हैं कि दुख की भी उपयोगिता है। हम सभी जानते हैं कि दुख से कितनी बड़ी शिक्षा मिलती है। हमने जीवन में ऐसे सैकड़ों कार्य किये हैं, जिनके बारे में बाद में हमें पता लगता है कि वे न किये जाते तो अच्छा होता, पर तो भी इन सब कार्यों ने हमारे लिए महान शिक्षक का कार्य किया है। मैं अपने बारे में कह सकता हूँ कि मैंने कुछ अच्छे कार्य किये हैं, यह सोचकर भी मैं आनन्दित हूँ और अनेक बुरे कार्य किये हैं, यह सोचकर भी आनन्दित हूँ – मैंने कुछ सत्कार्य किया है, इसलिए भी सुखी हूँ और अनेक भूलें की हैं, इसलिए भी सुखी हूँ, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने मुझे कुछ-न-कुछ उच्च शिक्षा दी है। मैं इस समय जो कुछ हूँ, वह अपने पूर्व कर्मों और विचारों के फलस्वरूप हूँ।

**— स्वामी विवेकानन्द**

# जीवन-संग्राम

*स्वामी आत्मानन्द*

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)।

यह जीवन-संग्राम बहुत ही विकट है। मनुष्य को तीन क्षेत्रों में यह संग्राम लड़ना पड़ता है। एक तो वह है, जहाँ मनुष्य प्रकृति से लड़ता है; दूसरा वह जहाँ मनुष्य मनुष्य से लड़ता है; और तीसरा वह है जहाँ मनुष्य अपने-आप से लड़ता है। इन तीनों युद्धों के रणकौशल अलग अलग होते हैं। पहली लड़ाई के लिए मनुष्य भौतिक-विज्ञान से सहायता लेता है, दूसरी के लिए वह समाज-विज्ञान से और तीसरी के लिए मनोविज्ञान का सहारा लेता है। कभी उसे सफलता मिलती है, तो कभी विफलता। जब वह विफल होता है, तब इस संग्राम से विरत होने का विचार करता है। उसे लगता है कि दुनिया एक झमेला है और इसे छोड़कर मुझे कहीं जंगल में चले जाना चाहिए। वह बारम्बार संसार से पलायन की बात सोचता है। पर क्या जीवन-संग्राम को छोड़कर भाग जाना उसकी समस्या का समाधान कर सकेगा ? मनुष्य भ्रम में पड़कर सोचने लगता है कि बाहरी परिस्थितियों में परिवर्तन से उसे शान्ति मिल सकेगी। पर, वस्तुतः शान्ति तो उसके स्वयं के ही भीतर है। जंगल में जाने मात्र से शान्ति नहीं मिल जाती। शान्ति पाने के लिए हमें बाहरी परिस्थितियों में नहीं, स्वयं अपने भीतर परिवर्तन करना होगा। मेरे पैर में काँटा गड़ जाने पर यदि मैं सोचूँ कि मैं दुनिया के सारे काँटे जलाकर भस्म कर दूँगा, तो यह मेरी नितान्त नादानी ही होगी। उचित तो यह होगा कि मैं जूते पहनकर चलूँ, जिससे काँटों का कष्ट मुझे न झेलना पड़े। वर्षा के कष्ट से दुखी होकर मैं यदि सोचूँ कि वर्षा को ही बन्द कर दूँ, तो यह सम्भव नहीं है। उचित यह है कि मैं छाता खोलकर अपने को वर्षा के कष्ट से बचा लूँ। अतएव जीवन-संग्राम से जूझने के लिए हमें अपने मन में परिवर्तन लाना होगा, अपनी दृष्टि बदलनी होगी।

हम पढ़ते हैं कि अर्जुन ने एक महाभारत का युद्ध किया। हमारे भीतर भी एक महाभारत चल रहा है। अर्जुन का महाभारत तो अठारह दिनों में समाप्त हो गया, पर

हमारे भीतर का महाभारत जाने कब से अनवरत चला हुआ है और रुकने का नाम नहीं लेता। हमारे भीतर भी दो सेनाएँ हैं – एक है देवताओं की यानी शुभ प्रवृत्तियों की और दूसरी है असुरों की यानी अशुभ प्रवृत्तियों की सेना। देवासुर-संग्राम प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में चला हुआ है। अच्छाई और बुराई की यह ठनाठनी क्षण-प्रतिक्षण चल रही है।

हमारे भीतर आत्मा की आवाज उठती है, फिर शैतान भी अपने बोल सुनाता रहता है। आत्मा की आवाज हमें कुपथ में जाने से रोकती है, हमें सावधान करती है कि कहीं असुरों के फन्दे में न पड़ जाना। वह हमारा सही सही मार्गदर्शन करती है। पर शुभ की यह आवाज बहुधा क्षीण होती है। दूसरी ओर अशुभ मानो बुलन्द आवाज में हमसे कहता है, "अरे, यह क्या अच्छाई-अच्छाई की रट लगा रखी है। संसार में कहीं अच्छाई है भी? छल-प्रपंच, कपट-द्वेष का ही नाम तो संसार है। अगर आगे बढ़ना है, तो दूसरों को छलो। अगर संसार में बचे रहना है, तो दूसरों को ठगो, सबसे धोखाधड़ी करो, येन-केन-प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करो।"

और हम इन दो आवाजों के बीज विभ्रमित हो खड़े रह जाते हैं। हमें कुछ सूझ नहीं पड़ता। बलात् हमारे पैर आसुरी-सेना की ओर खिंचने लगते हैं। तब मन के किसी अज्ञात कोने से एक धीमा-सा स्वर सुनाई देता है – "मैं तुम्हारा शुभाकांक्षी हूँ। मैं तुम्हारे भीतर का शुभ हूँ, देवता हूँ, भले ही अभी शिथिल हूँ, पर पूरी तौर से सोया नहीं हूँ। जिस रास्ते तुम कदम बढ़ा रहे हो, उससे तुम्हारा अमंगल ही होगा।" और तब हमारे पाँव ठिठक जाते हैं। हृदय के भीतर मंथन होने लगता है। एक ओर संसार के सुनहले सपने, तड़क-भड़क का प्रलोभन, आमोद-प्रमोद का जीवन, इन्द्रियों को उत्तेजित और तप्त करने के साधन, और दूसरी ओर जीवन के शाश्वत मूल्यों की झाँकी, इन्द्रियों और मन के स्वामी बनने का दृश्य, त्याग और संयम का जीवन, सेवा और दूसरों के काम आने का भाव। और इन दोनों के बीच हम मथित होने लगते हैं। यह मन्थन ही हमारे पौरुष को जाग्रत करता है और हमें जीवन-संग्राम का यथोचित रूप से सामना करने की शक्ति प्रदान करता है। यदि हम अपने इस जागृत हुए पौरुष का संयोग अपने भीतर की शुभ की सेना के साथ करते हैं, तो भौतिक-विज्ञान, समाज-विज्ञान तथा मनोविज्ञान की रचनात्मक और रक्षणात्मक शक्तियाँ हमारी सहायता के लिए सामने आती हैं। फलस्वरूप, हम निश्चय ही जीवन-संग्राम में विजयी होते हैं तथा शान्ति के अधिकारी बनते हैं। □

# मानस-रोग (२९/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीराचरितमानस' के 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके उन्तीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। - सं०)

प्रतापभानु के प्रसंग में इस ईर्ष्या का दूसरा पक्ष सामने आता है। प्रतापभानु एक राजा है, चक्रवर्ती सम्राट है। सारे संसार पर उसका अधिकार हो गया है। दूसरा व्यक्ति भी एक छोटे-से प्रदेश का राजा है। उसके मन में ईर्ष्या की वृत्ति बड़ी प्रबल है। प्रतापभानु अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा लेकर पूरे जगत का भ्रमण करते हैं। उस काल की प्रथा के अनुसार सभी राजाओं ने प्रतापभानु के सामने समर्पण किया और प्रतापभानु ने भी उनसे केवल भेंट स्वीकार करके उन्हें अपना अपना राज्य चलाने को कहा। प्रतापभानु न तो किसी की सत्ता छीनना चाहते थे और न पद ही, परन्तु सम्मान पाने की कामना उनमें है। वे चाहते हैं कि सभी उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करें। गोस्वामीजी यहाँ एक बड़ा सूक्ष्म संकेत देते हैं। प्रतापभानु के अन्तःकरण से भौतिक कामनाएँ भले ही मिट गयी हों, पर श्रेष्ठता का सम्मान पाने की सूक्ष्म कामना उनमें विद्यमान थी। यही वृत्ति विश्वामित्र के जीवन में भी थी, परन्तु विश्वामित्र और प्रतापभानु के जीवन में एक बड़ा अन्तर यह है कि विश्वामित्र इस वृत्ति को लेकर एक ऐसी दिशा में मुड़ गये कि अन्त में वे ब्रह्मर्षि-पद पर प्रतिष्ठित होने में सफल हुए, परन्तु प्रतापभानु उनके ठीक विपरीत दिशा में बढ़कर अन्ततः राक्षस बने।

जहाँ सभी राजा प्रतापभानु के पराक्रम के सामने झुक गये, वहीं एक छोटे-से राज्य के राजा को प्रतापभानु की इस सफलता से ईर्ष्या हो गयी। उसने प्रतापभानु के सामने झुकना स्वीकार नहीं किया। अगर उसके मन में केवल सत्ता और राज्य की कामना होती, तो वह प्रतापभानु का मित्र बनकर अपना राजत्व बनाये रख सकता था।परन्तु जिस अहंकार से प्रतापभानु ग्रस्त है, उसी अहंकार से यह राजा भी ग्रस्त है। उसमें भी राज्य नहीं सम्मान की भूख है। वह किसी के सामने झुकना और किसी की अधीनता स्वीकार करना नहीं चाहता। दोनों का अहंकार टकराने

लगा। परन्तु युद्ध में तो वह प्रतापभानु को जीत नहीं सकता था। तब उसने कौन-सा मार्ग अपनाया? राज्य छोड़कर वह वन में चला गया और तपस्वी का वेष बनाकर रहने लगा। विश्वामित्र ने भी राज्य का परित्याग कर दिया था और वन में जाकर तपस्या करने लगे थे। इस राजा ने भी वैसा ही किया, परन्तु आगे चलकर दोनों के मार्ग में एक बहुत बड़ा अन्तर आ गया। गोस्वामीजी एक बड़ा विलक्षण संकेत देते हैं, जो स्मरण रखने योग्य है। विश्वामित्र की त्याग-तपस्या जहाँ अन्ततः भगवान से जुड़ जाती है, वहीं यह राजा राक्षसत्व से जुड़ जाता है। वह राजा ऊपर से तो तपस्वी था, परन्तु भीतर से वह कैसे रहता था –

**रिस उर मारि रंक जिमि राजा। बिपिन बसइ तापस के साजा ॥ १/१५८/५**

बाहर से वह तपस्वी दिखता था, परन्तु भीतर ईर्ष्या और क्रोध की आग जल रही थी कि कैसे मेरे शत्रु का विनाश हो। द्वेष तथा मात्सर्य के साथ ईर्ष्या जुड़ गयी और यहीं पर उसका राक्षसत्व प्रारम्भ हो जाता है। वशिष्ठ और विश्वामित्र के सन्दर्भ में यह बात नहीं है। विश्वामित्र को ईर्ष्या है वशिष्ठ के ब्रह्मर्षि-पद से, परन्तु वे वशिष्ठ को नष्ट नहीं करना चाहते, अपितु त्याग और तपस्या के द्वारा स्वयं ऊपर उठकर वशिष्ठ के समान ही ब्रह्मर्षि-पद पा लेना चाहते हैं। यद्यपि यह हमारा आदर्श नहीं है, अन्तिम लक्ष्य नहीं है, क्योंकि इस सन्दर्भ में एक बड़ी प्रसिद्ध कथा है।

त्रिशंकु सूर्यवंश के राजा थे। उनके मन में सशरीर स्वर्ग जाने की इच्छा उत्पन्न हुई। उन्हें लगा कि मरने के बाद तो सभी पुण्यात्मा स्वर्ग जाते हैं, यदि मैं भी वैसे गया तो मेरी क्या विशेषता! यह विशेष बनने की वृत्ति क्या है? यही ईर्ष्या है। यह बड़ी तेजी से एक-के-बाद दूसरे में संक्रमित होती है। दूसरा व्यक्ति तत्काल कहता है – हम तुम्हारी विशेषता क्यों स्वीकार करें, तुम्हारे सामने क्यों झुकें, तुम्हें महत्व क्यों दें? त्रिशंकु वशिष्ठजी के पास गये। वशिष्ठ उनके गुरु हैं। उन्होंने गुरु वशिष्ठ से कहा – मैं सशरीर स्वर्ग जाना चाहता हूँ। वशिष्ठ तो ब्रह्मा के पुत्र हैं और ब्रह्मा का नाम है विधि। वशिष्ठजी ने कह दिया कि सृष्टि का विधान तो यही है कि व्यक्ति शरीर छूटने के बाद ही स्वर्ग जा सकता है। कोई भी सशरीर स्वर्ग नहीं जा सकता।

त्रिशंकु को यदि अपने गुरु के प्रति श्रद्धा होती, तो वे अपनी भूल समझकर सशरीर स्वर्ग जाने का आग्रह छोड़ देते। परन्तु उनमें राजसिक वृत्ति आ गयी। उन्हें पता था कि वशिष्ठ के प्रति विश्वामित्र की बड़ी ईर्ष्या तथा प्रतिद्वन्द्विता की भावना है। सोचा कि क्यों न इसका लाभ उठाया जाय! वे विश्वामित्र के पास पहुँचे।

विश्वामित्र ने कहा – तुम तो वशिष्ठ के यजमान हो, यहाँ कैसे आये ? उन्होंने कहा – महाराज, जो कार्य वे कर नहीं सके, उसे लेकर मैं आपके पास आया हूँ। बस विश्वामित्रजी प्रसन्न हो गये कि कोई ऐसा भी काम है, जिसे वशिष्ठ नहीं कर पा रहे हैं। पूछा – कौन-सा कार्य ? त्रिशंकु बोले – मैं सशरीर स्वर्ग जाना चाहता हूँ और वशिष्ठजी कहते हैं कि यह नहीं हो सकता। विश्वामित्र बोले – मैं अभी तुम्हें सशरीर स्वर्ग भेज देता हूँ। यहाँ पर हम देखें तो ईर्ष्या के कारण जितनी भी वृत्तियाँ आ रही हैं, वे सभी श्रेष्ठ वृत्तियाँ ही दिखाई दे रही हैं। दूसरों को स्वर्ग पहुँचा देने की वृत्ति बुरी तो नहीं कही जा सकती। विश्वामित्र ने सचमुच ही अपनी तपस्या के बल पर उन्हें सशरीर स्वर्ग भेज दिया। परन्तु आगे की कथा बड़ी सांकेतिक है।

सत्कर्म के मूल में जब सद्भावना तथा सद्विचार नहीं होते, तो उसका जो फल होना चाहिए, वह नहीं होता। यहाँ पर भी वही हुआ। त्रिशंकु जब विश्वामित्र के द्वारा सशरीर स्वर्ग भेज दिये गये, तो स्वर्ग के देवताओं ने उन्हें नीचे ढकेल दिया। नीचे गिरते हुए त्रिशंकु ने विश्वामित्र को पुकारा – महाराज, मुझे बचाइये। विश्वामित्र ने कहा – तुम वहीं ठहरो; स्वर्ग के देवता यदि तुम्हें स्वर्ग में नहीं रहने देना चाहते, तो हम तुम्हारे लिए नये स्वर्ग का निर्माण करेंगे। सचमुच ही उनमें तपस्या का इतना बल था कि वे नये स्वर्ग का निर्माण कर सकते थे।

ये सारी बातें एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। पहले वशिष्ठ के समान त्यागी-तपस्वी बनने की इच्छा हुई, ब्रह्मर्षि कहलाने की इच्छा हुई, त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग पहुँचाने की इच्छा हुई और अब यहाँ तक कि अपने सत्कर्म के द्वारा उन्होंने एक नया स्वर्ग बनाने का संकल्प किया। लेकिन अन्त में परिणाम क्या निकला ? जब वे स्वर्ग का निर्माण करने लगे, तो देवताओं ने आकर प्रशंसा करते हुए कह दिया कि आपके समान महात्मा संसार में दूसरा कोई नहीं है। यही तो वे सुनना चाहते थे। कोई नहीं है अर्थात वशिष्ठ भी नहीं। जब देवतागण कह रहे हैं, तब तो यह सिद्ध हो गया कि मैं वशिष्ठ से भी श्रेष्ठ हूँ। तब उन्होंने स्वर्ग का निर्माण करना छोड़ दिया।

इसके बाद बड़ा ही सांकेतिक वर्णन है। स्वर्ग से गिरते हुए त्रिशंकु को विश्वामित्र ने बीच में ही रोक दिया। वे बीच में ही लटके रह गये। सिर नीचे और पैर ऊपर। उनके मुख से लार टपकने लगी, जिससे एक नदी निकल पड़ी। उस नदी का नाम है कर्मनाशा। पुराणों में कहा गया है कि इस कर्मनाशा नदी में कोई स्नान कर ले, तो उसका सारा पुण्य नष्ट हो जाता है। बड़ी विचित्र कथा है। कर्मनाशा में स्नान

करने से व्यक्ति का पुण्य नष्ट हो जाता है, इसका क्या अभिप्राय है ? ऐसा कौन-सा दोष इस नदी में है, जो व्यक्ति के पुण्य को नष्ट कर देता है ? इस कर्मनाशा नदी के मूल में जो वृत्ति है, जहाँ से इसका उद्गम होता है, वही दोषपूर्ण है और उसी दोष से दूषित यह कर्मनाशा की धारा व्यक्ति के सत्कर्म को नष्ट कर देती है। इस कर्मनाशा के मूल में कौन है ? इसका जन्म कहाँ से होता है ? विश्वामित्र के अन्तःकरण की ईर्ष्यावृत्ति ही इसके मूल में है और वहीं से इसका जन्म होता है।

विश्वामित्र ने सारे अच्छे कार्य किये, परन्तु उनके मूल में विवेक या लोकमंगल की भावना नहीं थी। क्या भावना थी ? जब वे त्रिशंकु को स्वर्ग भेज रहे थे अथवा उनके लिए स्वर्ग का निर्माण कर रहे थे, तब उनका लक्ष्य त्रिशंकु का उपकार करना उतना नहीं था, जितना कि वशिष्ठ को नीचा दिखाना। यही वह संकेत है, जो कर्मनाशा की कथा में निहित है। जब हमारे कर्म के मूल में ईर्ष्या तथा व्यामोह होता है, तब उसका परिणाम वह नहीं होता, जो सत्कर्म का होना चाहिए। वह उस कल्याण की सृष्टि नहीं कर पाता, जो सत्कर्मों के द्वारा होना चाहिए। तब वह पुण्य उत्पन्न करने के स्थान पर पुण्य को नष्ट करनेवाली कर्मनाशा हो जाती है।

विश्वामित्र के सत्कर्मों के मूल में यद्यपि ईर्ष्या की वृत्ति है, तथापि उनमें आसुरी वृत्ति का समावेश नहीं हुआ है। भले ही ईर्ष्या से प्रेरित हो, परन्तु कम-से-कम उनके द्वारा सत्कर्म ही होता रहा और आगे चलकर वह कल्याण की दिशा में मुड़ जाता है। गोस्वामीजी यहाँ पर एक सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं। विश्वामित्र जब तक ब्रह्मर्षि पद प्राप्त करने के लिए तपस्या करते रहे, जब तक त्रिशंकु के लिए नया स्वर्ग बनाते रहे, तब तक वे वैसे महिमावान नहीं हुए, जैसा होना चाहिए था। बल्कि इसके विपरीत वे कर्मनाशा के जन्मदाता बन गये।

अन्ततः विश्वामित्रजी में यज्ञवृत्ति का जन्म हुआ और वे ईर्ष्या को त्यागकर यज्ञ करने लगे। राक्षसों द्वारा यज्ञ में विघ्न उपस्थित करने पर उन्होंने विचार किया –

**हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी ॥ १/२०६/५**

भगवान के बिना ये राक्षस नहीं मरेंगे। अब सोचने लगे कि भगवान कहाँ मिलें ? भगवान की खोज शुरू हुई। उनकी वृत्ति सही दिशा में मुड़ गयी और सार्थक हो गयी। वे भगवान को खोजने लगे और भगवान तो बड़े ही कौतुकी हैं। विश्वामित्र नगर त्यागकर वन में रहने लगे, तो भगवान आ गये नगर में। अयोध्या नगरी में उन्होंने जन्म लिया। विश्वामित्र की धारणा थी कि ब्राह्मण श्रेष्ठ है और वे

क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने के लिए तपस्या कर रहे थे, तो भगवान ने जन्म लिया क्षत्रिय कुल में। मानो भगवान का संकेत यह है कि मुझे पाना है, तो तुम्हें अपनी श्रेष्ठता का अभिमान छोड़कर नीचे उतरना होगा। वन से नगर की ओर, ब्राह्मण से क्षत्रिय की ओर और उन्हीं वशिष्ठ के यजमान के घर जाना पड़ेगा, जिनसे आपका बड़ा विरोध है। इसका अभिप्राय क्या है ? जब तक आप इस ईर्ष्या-द्वेष की वृत्ति को नहीं मिटायेंगे, तब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं होगी। ईश्वरप्राप्ति के मूल में यही तथ्य है। विश्वामित्र जब वशिष्ठ के प्रति अपनी ईर्ष्या को त्यागकर, अपने अहं का परित्याग कर भगवान को पाने की दिशा में बढ़ते हैं, तभी सामंजस्य होता है।

संघर्ष भी लेनदेन को लेकर ही आरम्भ हुआ था। विश्वामित्र ने कामधेनु को माँगा और वशिष्ठ ने नहीं दिया था। आज भी विश्वामित्र माँगने ही आये हुए हैं, परन्तु क्या माँगते हैं – राम-लक्ष्मण को दे दीजिए।

**अनुज समेत देहु रघुनाथा। १/२०७/१०**

आज वशिष्ठ और विश्वामित्र – दोनों की भूमिका बदली हुई है। वशिष्ठ यह नहीं कहते कि राम-लक्ष्मण को नहीं ले जाने दूँगा। बल्कि उल्टे जब दशरथजी आनाकानी करने लगते हैं, तो वशिष्ठजी उन्हें समझाते हैं –

**तब वसिष्ठ बहुबिधि समुझावा। नृप सन्देह नास कहँ पावा ॥ १/२०८/८**

यहाँ लेनदेन की बात बदल गयी है। यहाँ चाह कामधेनु की नहीं, साक्षात भगवान की है। अन्तर क्या है ? भगवान की प्राप्ति और सांसारिक वस्तु की प्राप्ति में अन्तर क्या है ? संसार की वस्तुएँ जिन्हें प्राप्त हो जाती हैं, वे चाहते हैं कि ये दूसरों को न मिलने पायें। ईर्ष्या उत्पन्न होती है। परन्तु जिनको भगवान मिल जाते हैं, वे तो चाहते हैं कि भगवान दूसरों को भी मिलें, सबको मिलें। ऐसा क्यों होता है ? बात यह है कि अन्यत्र लगता है कि जिसे अधिक मिल जायगा, वह अधिक लाभ में रहेगा और कम मिलने पर मैं घाटे में रहूँगा। परन्तु भगवान तो जिनको मिलते हैं, पूरा ही मिलते हैं। उनमें ऐसा नहीं है कि किसी को देने के बाद आधे भगवान मेरे पास रह जायेंगे और आधे उसके पास चले जायेंगे। यह चिन्ता भगवान के बँटवारे में नहीं है। जानते हैं कि उनके पास भी पूरे भगवान रहेंगे और हमारे पास भी पूरे भगवान रहेंगे। यह जो पूर्ण में भय नहीं है, इसलिए वहाँ ईर्ष्या भी नहीं है।

वस्तुतः इस ईर्ष्या से पूरी तौर से छुटकारा तो तभी मिलता है, जब व्यक्ति पूर्ण को पा लेता है। जहाँ कम-ज्यादा, घटने-बढ़ने और खो जाने का भय नहीं है, वहाँ

ईर्ष्यावृत्ति समाप्त हो जाती है। परन्तु जब तक यह पूर्णता की वृत्ति नहीं है, तब तक मनुष्य के अन्तःकरण में दूसरों से तुलना होगी ही। ऐसी स्थिति में कर्तव्य क्या है ? हमें इस बात की सावधानी बरतनी होगी कि हमारे व्यवहार से कहीं दूसरों के मन में ईर्ष्यावृत्ति न उत्पन्न हो। अपनी ओर से हम ईर्ष्या पैदा करने की चेष्टा न करें। बहुत बार ऐसा होता है कि हम लोगों के दिखावे से, हमारे आचरण तथा प्रदर्शन से आसपास के लोगों में ईर्ष्या पैदा हो जाती है। अभिप्राय यह कि सामनेवाले के मन में जो ईर्ष्या दिखाई देती है, उसके जनक हम स्वयं हैं। हम यदि ऐसा कोई कार्य करें, जिससे सामनेवाले के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो, तो वह हमारी ही भूल है।

प्रतापभानु से यही भूल हुई। उन्होंने सबको छोटा बनाकर स्वयं को बड़ा सिद्ध करने का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप बहुत-से राजाओं के मन में ईर्ष्या हुई होगी, परन्तु एक के मन में वह इतने अदम्य रूप में उत्पन्न हुई कि वह उसे दबा नहीं सका और बदले की भावना से समय की प्रतीक्षा करता हुआ एक तपस्वी का वेष लेकर एक वन में छिपा रहा। यदि वह सचमुच तपस्वी हो जाता, तो उसकी ईर्ष्या कल्याण की दिशा में मुड़ जाती, पर उसने इस ईर्ष्या का सदुपयोग नहीं किया।

आगे चलकर वर्णन आता है कि एक बार प्रतापभानु उसी वन में भटक गये और संयोगवश उसी आश्रम में जा पहुँचे, जहाँ उसका शत्रु राजा तपस्वी के वेष में निवास करता था। प्रतापभानु ने उसे तपस्वी समझकर उसके चरणों में प्रणाम किया। अब यह तो तपस्वी बनने की बड़ी सार्थकता थी कि जो प्रतापभानु उसका प्रणाम ग्रहण करना चाहते थे, वे आज स्वयं ही उसके चरणों में प्रणाम कर रहे थे। उसे सन्तुष्ट हो जाना चाहिए था, उसकी ईर्ष्या को शान्त हो जाना चाहिए था कि मेरी श्रेष्ठता सिद्ध हो गयी। परन्तु इतने से ही उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसकी ईर्ष्या-वृत्ति के साथ वह जो राक्षस जुड़ गया है कि जिससे ईर्ष्या हो गयी है, उसके समूल विनाश की चेष्टा करना। यही राक्षसीवृत्ति है, ईर्ष्या का सबसे भयानक रूप है।

जहाँ तक ईर्ष्या में स्पर्धा की भावना हो, बराबरी करने या आगे बढ़ने की वृत्ति आ जाय, वहाँ तक तो ठीक है। किसी महान व्यक्ति से ईर्ष्या हो जाने पर, उससे भी अधिक महान बनने के प्रयास में सत्कर्म करना तो ठीक है, परन्तु जहाँ पर ईर्ष्यास्पद व्यक्ति को मिटा देने की वृत्ति है, वहाँ ईर्ष्या के साथ राक्षसीवृत्ति जुड़ी हुई है। यही उस कपटी तथा ईर्ष्यालु राजा के साथ कालकेतु राक्षस की मित्रता है। इस ईर्ष्या का क्या परिणाम होता है ? इसी ने रावण तथा कुम्भकर्ण का निर्माण किया। प्रतापभानु

ने स्वयं राजा के मन में ईर्ष्या उत्पन्न की और आखिरकार वह स्वयं भी उसकी चपेट में आ गया। राजा की ईर्ष्या राक्षसीवृत्ति की ओर मुड़ गयी और उसने प्रतापभानु को ही रावण बना दिया। ईर्ष्याग्रस्त होकर प्रायः हम राक्षस से मित्रता कर बैठते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि सामनेवाले को भी हम राक्षस बना देते हैं।

किसी भी व्यक्ति में जब ईर्ष्या होती है, तो किसी में कोई विशेषता देखकर ही होती है, परन्तु उसमें भी कोई-न-कोई दुर्बलता तो होती ही है। ईर्ष्यालु व्यक्ति क्या करता है ? वह उसी दुर्बलता को पकड़ता है। रामायण में हनुमानजी के प्रसंग में ही ईर्ष्या की सबसे गम्भीर व्याख्या की गयी है। वहाँ गोस्वामीजी ने उसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया है। हनुमानजी लंका की ओर जा रहे हैं। उनकी यह यात्रा सीताजी को पाने की यात्रा है। श्रीसीता मूर्तिमती शान्ति हैं। हनुमानजी जब उनके पास जाकर उनके साथ वार्तालाप करते हैं, तो –

**मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति प्रताप तेज बल सानी॥ ५/१७/१**

सीताजी उनकी बातें सुनकर सन्तुष्ट होती हैं और उन्हें आशीर्वाद देती हैं। यहाँ इस पर विस्तार से चर्चा करने का अवसर नहीं है। परन्तु संक्षेप में इसका तात्पर्य है कि सन्तोष साधन है और शान्ति साध्य। शान्ति को प्राप्त करना है और वह मनुष्य के जीवन में तब तक नहीं आयेगी, जब तक उसे सन्तोष नहीं होगा। पहले सन्तोष का आगमन होता है और तब उसके अन्तिम परिणाम के रूप में शान्ति आती है। हनुमानजी की यह यात्रा सीताजी अर्थात शान्ति के खोज की यात्रा है। प्रत्येक साधक अपने जीवन में शान्ति की खोज में लगा हुआ है।

शान्ति को पाने के मार्ग में जो विघ्न आते हैं, उनका गोस्वामीजी ने क्रमिक विश्लेषण किया है। एक के बाद एक – जिस क्रम से ये आते हैं, उसी क्रम से वे उनका वर्णन करते हैं। हनुमानजी जब चले, तो उनके सामने पहली सबसे बड़ी समस्या समुद्र को पार करने की और दूसरी समस्या मैनाक पर्वत के आमंत्रण को अस्वीकार करने की थी। तदुपरान्त सुरसा की समस्या आयी, जो उन्हें निगलने को तैयार है। जो साधक शान्ति को खोज में चलेगा, उसके सामने समुद्र की लहरें आयेंगी, मैनाक आयेगा और सुरसा भी आयेगी। इनमें से जिस समस्या पर अभी चर्चा चल रही है, उसका सुरसा के बाद आगमन होता है।

हनुमानजी जब सुरसा से आशीर्वाद प्राप्त करके आगे चले, तो उन्हें सहसा लगा कि मेरी गति रुक गयी है। वे आकाश मार्ग से चल रहे थे। वे सोचने लगे –

क्या किसी ने मुझे पकड़ लिया है ? परन्तु प्रत्यक्ष रूप से तो कोई दिखाई नहीं दे रहा था। सोचने लगे कि बात क्या है ! गति में विराम क्यों आया ? तब उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा कि नीचे समुद्र में कोई राक्षसी छिपी बैठी है। सिंहिका नामक उस राक्षसी की विशेषता यह थी कि आकाश में किसी को भी उड़ते देखकर, वह उसकी छाया को पकड़ लेती थी और उसे नीचे गिराकर खा जाती थी। उसका यही कार्य था। हनुमानजी ने तुरन्त उसे पहचान लिया –

**तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा ।। ५/३/४**

कौन है यह सिंहिका? यह ईर्ष्या की वृत्ति है। इसकी सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि वह समुद्र में रहकर भी जल के जन्तुओं को नहीं खाती और पृथ्वी के जीवों को भी नहीं खाती। वह तो बस जिसे आकाश में उड़ता देखती है, उसी को खाती है। यही ईर्ष्या का सर्वाधिक विचित्र स्वभाव है। बराबरी वालों को खाने में क्या मजा! जो भी थोड़ा ऊपर उठता दिखा, उसको खींचकर गिराने और खाने में उसे आनन्द आता है। इसकी दूसरी विलक्षणता यह है कि जब यह व्यक्ति को गिराने के लिए खींचती है, तो उसे नहीं बल्कि उसकी छाया को पकड़कर खींचती है।

ईर्ष्यालु व्यक्ति का स्वभाव भी ऐसा ही होता है। उसकी भी व्यक्ति की दुर्बलता पर ही दृष्टि रहती है और वह व्यक्ति को नहीं बल्कि उसकी दुर्बलता को ही अपना लक्ष्य बनाता है। सिंहिका द्वारा छाया को पकड़ने का क्या तात्पर्य है ? छाया कभी उज्ज्वल नहीं, सर्वदा काली ही होती है। किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व चाहे कितना भी उज्ज्वल क्यों न हो, उसकी छाया तो काली ही होगी और ऐसा कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता, जिसके साथ छाया न जुड़ी हो। हनुमानजी की भी छाया थी तो अवश्य, परन्तु वह थोड़ी अलग प्रकार की छाया थी। वह छाया सिंहिका के लिए धोखे की सिद्ध हुई। हनुमानजी की छाया का अर्थ यह है कि वे स्वयं ऊपर हैं और छाया नीचे है। यह छाया बहुधा अभिमान की होती है। बड़े बड़े व्यक्तियों के जीवन में इस अभिमान की छाया होती है। हनुमानजी ऊपर उठे हुए है, परन्तु उनके अभिमान की छाया नीचे दिखाई दे रही है। बड़ी लम्बी-चौड़ी छाया है उनकी, बड़ा विराट अभिमान है उनका। सिंहिका ने सोचा – "चलो बड़ा भारी शिकार मिला! इस बन्दर को गिराने में बड़ा मजा आयेगा। इसमें भी तो अभिमान है, गिरेगा कैसे नहीं !" परन्तु यहाँ वह धोखा खा गयी। उसने यह नहीं देखा कि अब तक उसने जितनी छायाएँ पकड़ी थीं, उनमें और इस छाया में अन्तर है। उसने सोचा था कि

जैसे सबमें अभिमान होता है, वैसे ही हनुमानजी में भी होगा। परन्तु वास्तविकता क्या है ? उनमें अभिमान तो है, परन्तु उनका अभिमान न तो धन का था, न बल का और न ही बुद्धि का। उनमें तो बस एक ही वस्तु का अभिमान था –

**अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥ ३/११/२१**

हनुमानजी को यही अभिमान है कि मैं भगवान का सेवक हूँ और वे ही मेरे स्वामी हैं। सिंहिका ने सोच लिया था कि अभिमानी तो गिरता ही है, यह भी अवश्य गिरेगा। संसार का अभिमान करनेवाला अवश्य ही गिरता है, परन्तु सिंहिका को यह पता नहीं था कि जिसने अपने जीवन में भगवान का अभिमान बना लिया है, उसे गिराने के प्रयास का परिणाम क्या होगा। सिंहिका के खींचने पर हनुमानजी नीचे तो अवश्य आये, परन्तु नीचे पहुँचकर वे राक्षसी को मारने में सफल हुए। उन्होंने ईर्ष्या को मिटा दिया।

वर्तमान सन्दर्भ में जो ईर्ष्यालु राजा है, वह भी छाया पकड़ने में बड़ा निपुण है, वह प्रतापभानु की कमजोरी को ढूँढ़ रहा है। प्रतापभानु में कुछ-न-कुछ छाया तो थी ही। वे पूरी तौर से दोषमुक्त नहीं थे। जब दोनों वन में मिले, तो कपटमुनि ने उनको पहचान लिया, परन्तु प्रतापभानु उसे नहीं पहचान पाये। बल्कि –

**देखि सुबेष महामुनि जाना॥ १/१५८/७**

उन्होंने समझा कि ये कोई सन्त हैं। कैसे पहचाना कि सन्त हैं ? वेश देखकर। इसका यह अर्थ हुआ कि कुछ-न-कुछ बुद्धि में कमी आ गयी थी। सन्त का भी क्या कोई वेश होता है ? वेश थोड़े ही सन्त होता है, वह तो बाजार में बिकता है। उसे तो कोई भी बाजार से खरीदकर ग्रहण कर सकता है। सन्त तो वस्तुतः चरित्र से सन्त होता है। प्रतापभानु ने देखा कि सन्त का वेश है। यहाँ गोस्वामीजी ने बड़ा ही मधुर व्यंग किया है। उस ईर्ष्यालु राजा ने कपट का आश्रय ले रखा है और उसका मित्र कालकेतु तो उससे भी बढ़कर महाकपटी है। इधर प्रतापभानु सत्यकेतु के पुत्र हैं, परन्तु वे कालकेतु नामक राक्षस से, कपट से हार जाते हैं। क्यों हार जाते हैं ? इतना निश्चित समझ लीजिए कि मिथ्यावादी जब झूठ बोलेगा तो सफलतापूर्वक बोलेगा, परन्तु सत्यवादी व्यक्ति यदि कभी झूठ बोलने का प्रयास करे तो पकड़ा जाता है, क्योंकि उसे झूठ बोलने का अभ्यास तो होता नहीं। यही बात यहाँ भी हुई। प्रतापभानु झूठ तो बोल गये, परन्तु वही बिना अभ्यास वाला झूठ ! अगर झूठ ही बोलना था, तो अपना कोई झूठा नाम बता देते या फिर यदि सत्य की चिन्ता थी

तो सीधे कह देते कि मैं प्रतापभानु हूँ। यह सत्य तो था ही। परन्तु वही चतुराई ! सत्य भी न जाय और राजनीति भी हो जाय। राजनीति की दृष्टि से सन्दिग्ध परिस्थितियों में राजा अपना नाम नहीं बताते। तब उन्होंने झूठ कैसे बोला ! सत्य और राजनीति दोनों को बचाते हुए उन्होंने कहा –

**नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा॥ १/१५९/५**

– महाराज, मैं प्रतापभानु राजा का मंत्री हूँ। सन्तोष कर लिया कि नाम तो मैंने अपना ही ले लिया। इससे मेरा सत्य भी बच गया और राजनीति भी। उधर कपटमुनि को भी सन्तोष हुआ। सुना तो वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ कि चलो झूठ का सिलसिला तुम्हारी ओर से ही शुरू हुआ। वह तो महा असत्यवादी कालकेतु का मित्र था। उसने अपना परिचय क्या दिया ? कहा कि मेरा नाम तो एकतनु है। इस एकतनु का क्या अर्थ है –

**आदि सृष्टि उपजी जबहीं तब उतपति भै मोरि।**
**नाम एकतनु हेतु तेहि देह न धरी बहोरि॥ १/१६२**

– जब सृष्टि आरम्भ हुई, तभी मेरा जन्म हुआ था, इसलिए मैं एकतनु हूँ। अब तो प्रतापभानु घबराये कि इतने बड़े महात्मा से मैं झूठ बोल गया। मुझसे तो यह बड़ा घोर अपराध हो गया। पूरा झूठ नहीं, तो भी उसमें कम-से-कम आधा झूठ तो था ही। वे तुरन्त क्षमा माँगने लगे। कपटमुनि ने हँसते हुए कहा –

**कीन्हेहु कपट लाग भल मोही॥ १/१६३/८**

– तुम्हारा यह कपट मुझे बड़ा अच्छा लगा। उसका व्यंग क्या था ? यह कि झूठ यदि अकेले मेरी ही ओर से होता, तो पूरा दोष मुझी पर पड़ता; चलो अच्छा हुआ कि झूठ तुम भी बोल गये। अब दोनों में बड़ा कौन है ? इन दो झूठों में लड़ाई होगी तो कौन जीतेगा? वही जो अधिक झूठा होगा। यह बड़ी विचित्र बात है। सत्य और असत्य के युद्ध में तो सत्य की विजय होती है, परन्तु जहाँ दो झूठों में युद्ध होगा, वहाँ तो जो अधिक झूठा होगा वही जीतेगा। परिणाम क्या हुआ? यह ईर्ष्या परिवर्तित करते हुए कहाँ पहुँचा देती है? प्रतापभानु रावण-कुम्भकर्ण बन जाता है।

इस तरह ईर्ष्या कभी तो मनुष्य के मन में सत्कर्म की प्रेरणा देती है, यद्यपि ऐसा सत्कर्म कभी पूर्णतः शुद्ध नहीं होता; और कभी दूसरों को नष्ट करने की, राक्षस बनाने की प्रेरणा देती है। यह ईर्ष्या एक ऐसा अद्भुत रोग है, जिसे पहचान पाना और मिटा पाना बड़े बड़े व्यक्तियों के लिए भी सरल नहीं है। ☐ (क्रमशः) ☐

# श्री चैतन्य महाप्रभु (४०)

*स्वामी सारदेशानन्द*

एक बार चैतन्यदेव रात के समय इसी प्रकार के भावावेश में अपनी कुटिया के बाहर निकल आये। वे प्रायः सारी रात जागकर बिताया करते थे और उनके मुख से निःस्रित होता हुआ सुमधुर कृष्णनाम निरन्तर सुनाई देता रहता था। परन्तु उस दिन गहरी रात के समय सहसा स्वरूप की नींद खुल गयी और कुटिया के भीतर उन्हें चैतन्यदेव की कोई आहट नहीं मिली। मन में सन्देह का उदय होने के कारण उन्होंने द्वार खोलकर भीतर प्रवेश किया और वहाँ उन्हें अनुपस्थित देखकर वे बड़े चिन्तित हुए। तदुपरान्त उन्होंने बाकी लोगों को भी जगाया और सब मिलकर उनकी खोज में बाहर निकले। व्याकुलतापूर्वक ढूँढ़ते हुए मन्दिर की ओर जाकर उन लोगों ने देखा कि सिंहद्वार के उत्तर की ओर एक स्थान में चैतन्यदेव पड़े हुए हैं। उन्हें देखकर स्वरूप को अतीव आनन्द हुआ, परन्तु उनकी दशा पर ध्यान जाते ही वे पुनः चिन्तित हो गये। महाप्रभु का अचेत शरीर पाँच-छह हाथ लम्बा होकर धरती पर पड़ा था और नाक से श्वास-प्रश्वास बन्द था। उनके एक एक हाथ-पाँव तीन तीन हाथ लम्बे हो रहे थे। उनकी अस्थियों के समस्त जोड़ अलग अलग हो गये थे और उन पर केवल त्वचा ही दीख पड़ती थी। उनके हाथ, पाँव, गरदन, कमर आदि की जितनी भी अस्थि-सन्धियाँ थीं, वे सभी एक एक बालिश्त दूर हट गयी थीं और उन सन्धियों पर केवल चर्म मात्र ही रह गया था। प्रभु की यह अवस्था देख सभी अत्यन्त दुखी हुए। प्रभु के चढ़े हुए नेत्र और मुख से लार तथा फेन बहते देखकर भक्तों के प्राण मुख को आ गये। तब स्वरूप दामोदर ने भक्तों को साथ लेकर उनके कानों में उच्च स्वर में कृष्णनाम सुनाना आरम्भ किया। काफी काल बाद कृष्णनाम उनके हृदय में प्रविष्ट हुआ और वे 'हरिबोल' की गर्जना करते हुए उठ बैठे। उनकी चेतना लौटते ही उनकी समस्त अस्थि-सन्धियाँ जुड़ गयीं और शरीर पूर्ववत ही हो गया।

बाह्यसंज्ञा लौट आने पर चैतन्यदेव ने चारों ओर देखा और अपने को सिंहद्वार पर पाकर वे बड़े ही विस्मित हुए। वे स्वरूप से पूछने लगे कि यह सब क्या है! स्वरूप बोले, "प्रभो, पहले अपनी कुटिया में चलिए, वहीं मैं आपको सब कुछ बताऊँगा।" इतना कहकर वे महाप्रभु को सहारा देकर उनके कमरे में ले गये और

उनकी अवस्था का वर्णन करने लगे। सब सुनकर चैतन्यदेव बड़े ही अचम्भित हो कहने लगे, "मुझे तो कुछ भी स्मरण नहीं आता। मैंने तो केवल इतना ही देखा कि मेरे कृष्ण प्रकट हुए और विद्युत के समान मुझे दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये।"

एक अन्य दिन पूर्वाह्न के समय समुद्रस्नान को जाते हुए चैतन्यदेव चटक पर्वत[1] को देखकर और उसे गोवर्धन पर्वत समझकर भावाविष्ट हो गये। भावावेश होने के साथ-ही-साथ वे तीव्र वेग से उसी ओर दौड़ पड़े। साथ चल रहे सेवक गोविन्द जब जी-जान से दौड़ते हुए भी उन्हें नहीं पकड़ सके, तो वे जोरों से चिल्लाकर आवाज देने लगे। गोविन्द की चिल्लाहट सुनकर अन्य भक्तगण भी व्यग्र होकर उसी ओर दौड़े आये। इस घटना का वर्णन करते हुए चरितामृतकार लिखते हैं, "पहले तो प्रभु वायु वेग से दौड़े। फिर मार्ग में ही स्तम्भित होकर चलने में असक्त हो गये। फिर उनके प्रत्येक रोमकूप का मांस फोड़े के समान सूज गया था और उस पर के रोएँ खड़े होकर कदम्ब फूल के समान दिख रहे थे। उनके रोम रोम से पसीने के समान रक्त की धार बह रही थी। कण्ठ से शब्दों का उच्चारण न होकर केवल घर्घर की आवाज निकल रही थी। उनके दोनों नेत्रों से आँसुओं की असीम धारा बह रही थी, मानो गंगा और यमुना की धारा निकलकर समुद्र में मिल रही हों। शरीर का रंग विवर्ण होकर श्वेत शंख के समान हो गया था और उसमें समुद्र की तरंगों के समान कम्पन होने लगा था। इस तरह काँपते हुए प्रभु का शरीर धरती पर गिर पड़ा और तभी गोविन्द उनके निकट आ पहुँचा। वह कमण्डलु से जल लेकर उनके पूरे शरीर पर छिड़कने लगा और कपड़े से उनको हवा करने लगा।"

इतने में स्वरूप आदि भक्तगण भी वहाँ आ पहुँचे और प्रभु की हालत देखकर सभी विह्वल होकर रोने लगे। उनके शरीर में अत्युच्च कोटि के अद्भुत सात्त्विक विकारों की अभिव्यक्ति देखकर भक्तों के विस्मय की सीमा न रही। इसके बाद वे लोग उच्च स्वर में संकीर्तन तथा शीतल जल से प्रभु के अंगों का मार्जन करने लगे। इस प्रकार कुछ काल तक कीर्तन होने के पश्चात चैतन्यदेव अचम्भित होकर 'हरिबोल' कहते उठ बैठे। इस पर समस्त भक्तगण आनन्दपूर्वक बारम्बार 'हरि' 'हरि' कहने लगे और इस मंगलध्वनि से चारों दिशाएँ प्रतिध्वनित होने लगीं। उठने

१. पुरी के दक्षिण-पश्चिमी छोर पर समुद्र के किनारे एक छोटे पर्वत के आकार का बालू का स्तूप है, उसी को चटक पर्वत कहते हैं।

के बाद महाप्रभु विस्मयपूर्वक इधर-उधर देखने लगे, परन्तु जिसे वे देखना चाहते थे, वह उन्हें कहीं भी दिखाई नहीं दिया। भक्तों को देख उनकी आर्धबाह्य अवस्था हो गयी और वे स्वरूप गोस्वामी से कहने लगे, ''मुझे गोवर्धन से यहाँ कौन ले आया; कृष्ण को पाकर भी मैं उनकी लीला नहीं देख सका। मैं आज यहाँ से गोवर्धन चला गया था कि कृष्ण वहाँ गौएँ चराते होंगे, तो उन्हें देखूँगा। मैंने देखा कि कृष्ण गोवर्धन पर चढ़कर वेणु बजा रहे हैं और चारों ओर गौएँ चर रही हैं। वेणु की ध्वनि को सुनकर वहाँ राधारानी भी आ गयीं। उनके रूप और भाव का वर्णन असम्भव है। राधाजी को साथ लेकर कृष्ण ने कन्दरा में प्रवेश किया। सखियों में से कोई कोई फूल तोड़ना चाहती थीं। उसी समय तुम लोग कोलाहल करने लगे और वहाँ से उठाकर मुझे यहाँ ले आये। मुझे व्यर्थ का दुःख देने के लिए तुम लोग क्यों मुझे यहाँ उठा लाए? अहा, कृष्ण को पाकर भी मैं उनकी लीला का अवलोकन नहीं कर सका!

इतना कहकर प्रेमिक संन्यासी व्याकुलतापूर्वक रुदन करने लगे। विरह-वेदना से कातर उनकी प्रेममय मूर्ति देखकर वहाँ उपस्थित भक्तों का हृदय विदीर्ण हो गया और वे लोग भी आँसू बहाने लगे। इतने में स्वामी परमानन्द पुरी और ब्रह्मानन्द भारती भी वहाँ आ पहुँचे। चैतन्यदेव उनके प्रति बड़े सम्मान का भाव रखते थे। अब उनका मन धीरे धीरे बाह्य जगत में लौट रहा था, अतः संन्यासीद्वय को देखते ही महाप्रभु ने उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। सहज अवस्था में रहने पर वे कभी लौकिक आचार-व्यवहार की उपेक्षा नहीं करते थे।

एक दिन वे श्री जगन्नाथ का दर्शन करने को गये थे। वहाँ जगन्नाथजी के विग्रह में साक्षात व्रजेन्द्रनन्दन का दर्शन करके गोपीभाव से अभिभूत होकर चैतन्यदेव के इन्द्रिय-मन उन्हीं में विलीन हो गये और वे बाह्यज्ञान खो बैठे। प्रातःकाल की भोग-आरती हो जाने पर संगी भक्तगण किसी प्रकार उनकी आंशिक चेतना लौटाकर उन्हें कुटिया में ले आये। कुटिया में लौटकर भी उस दिन उनके भाव का पूरा पूरा उपशम नहीं हुआ। स्वरूप और रामानन्द को गले लगाकर वे विलाप करने लगे और श्रीकृष्ण के वियोग में राधारानी की उत्कण्ठा का अपने हृदय में अनुभव करके हुए उसी भाव के श्लोक बोलकर उनकी सरस व्याख्या करते हुए अपने अन्तर के गहन भाव प्रकट करने लगे। तदुपरान्त वे बोले, ''सुनो स्वरूप, सुनो रामानन्द, मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? कहाँ जाने पर मुझे कृष्ण मिल जायेंगे ? तुम दोनों मुझे इसका उपाय बता दो।''

चैतन्यदेव के मुख से परमात्मा श्रीकृष्ण के माधुर्य का वर्णन तथा गोपीकाओं के अहैतुक निष्काम शुद्ध प्रेम का विवरण सुनकर स्वरूप और रामानन्द के अन्तर में भी परम आनन्द का संचार हुआ। 'चरितामृत'कार लिखते हैं, "गौरांगप्रभु इसी प्रकार दिन-पर-दिन स्वरूप तथा रामानन्द के साथ विलाप किया करते थे और वे लोग प्रभु को आश्वासन देते रहते थे। स्वरूप पदों का गायन करते तथा रामानन्द श्लोकों की आवृत्ति करते और इस प्रकार वे कर्णामृत, विद्यापति तथा गीतगोविन्द के गीत तथा श्लोकों से प्रभु को आनन्दित किया करते थे।

एक दिन समुद्रतट पर एक पुष्पोद्यान देखकर चैतन्यदेव के अन्तर में वृन्दावन की स्मृति जाग उठी। रासलीला के समय श्रीकृष्ण जब राधाजी को साथ लिए अन्तर्धान हो गये, तब गोपिकाएँ वन वन भटकती हुई उन्हें ढूँढ़ने लगीं – चैतन्यदेव के अन्तर में इसी भाव का स्फुरण हुआ और वे व्याकुलतापूर्वक तेजी से उद्यान के भीतर प्रविष्ट हुए। श्रीमद् भागवत से विरह-व्याकुल व्रजांगनाओं की उक्तियों का पाठ करते हुए चैतन्यदेव वहाँ के तरु-लताओं से श्रीकृष्ण का पता पूछने लगे। परन्तु किसी से भी प्रियतम का संवाद न पाकर उनका चित्त अत्यन्त कातर हो उठा। तदुपरान्त अन्तर में यमुनातट की उद्दीपना हो जाने से वे शीघ्रतापूर्वक उसी ओर अग्रसर हुए। वहाँ उन्हें कदम्ब तरु के नीचे श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ। उनका सौन्दर्य देखकर महाप्रभु मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े और उसी समय स्वरूप आदि भक्तगण भी वहाँ आ पहुँचे। चैतन्यदेव के सर्वांग में पूर्व के समान ही सात्त्विक विकार प्रकट हो गये थे; अन्तर में आनन्द का आस्वादन होते हुए भी बाहर से उनके चित्त में विह्वलता व्यक्त हो रही थी। पहले के समान ही सब मिलकर उनकी बाह्यसंज्ञा फिरा लाए। महाप्रभु ने उठकर चारों ओर दृष्टि फिराते हुए कहा, "कहाँ गये कृष्ण ? अभी तो दर्शन पाकर मेरे नयन-मन उनके सौन्दर्य निरख रहे थे। मुरली-मनोहर ! पुनः दर्शन क्यों नहीं देते ? उनके दर्शन के लोभ में मेरे नेत्र भटक रहे हैं।"

चैतन्यदेव श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी विषयक श्लोकों की आवृत्ति तथा विस्तृत व्याख्या करते हुए अपनी अनुभूतियाँ व्यक्त करने लगे। स्वयं वर्णन करके तृप्ति न होने पर उन्होंने रामानन्द को इसका आदेश दिया। रामानन्द भागवत से श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी के वर्णनात्मक श्लोकों का पाठ करने लगे और महाप्रभु स्वयं ही उनकी विशद व्याख्या करते हुए रस-विस्तार करने लगे। तदुपरान्त अपने भाव के अनुरूप एक श्लोक का उच्चारण करके रस की परिपुष्टि के लिए उन्होंने स्वरूप से उसी भाव

का एक पद गाने को कहा। तब रसज्ञ भावुक स्वरूप ने अवसर के अनुरूप जयदेव का एक प्रसिद्ध गीत गाना आरम्भ किया -

**रासे हरिमिह विहितविलासम्।**
**स्मरति मनो मम कृतपरिहासम्॥**

विशुद्ध तान-लय के साथ सुललित स्वर में गाया हुआ यह पद सुनते ही महाप्रभु के अन्तर का प्रेमसमुद्र और भी तरंगायित होने लगा और वे गीत के साथ साथ नृत्य करने लगे। क्रमशः उनके शरीर में विविध प्रकार के सात्त्विक विकार प्रकट हुए। उस अद्भुत भाव तथा नृत्य को देखकर भक्तों का चित्त आनन्द से उच्छ्वसित हो उठा। उनके आदेशानुसार स्वरूप ने बारम्बार वही पद गाया और वे उसके साथ साथ नृत्य करते रहे। काफी काल तक नृत्य करने के बाद भी उनके अन्तर की पिपासा मिटी नहीं। तदनन्तर स्वरूप ने गाना बन्द कर दिया, परन्तु चैतन्यदेव का नृत्य चलता ही रहा। वे बारम्बार 'बोल' 'बोल' कहकर स्वरूप से पुनः गाने का अनुरोध करने लगे, परन्तु भाव का अतिरेक देखकर स्वरूप ने उनका अनुरोध स्वीकार नहीं किया।

तब रामानन्द राय ने प्रभु को आसीन कराया और व्यजन आदि करके उनकी थकान मिटायी। तदुपरान्त वे उन्हें समुद्रतट पर ले गये तथा उन्हें स्नान कराकर वापस कुटिया में ले आये। फिर प्रभु को भोजन तथा शयन कराने के बाद रामानन्द आदि अपने अपने स्थान को लौट गये।

इस प्रकार कृष्णप्रेम के आवेश में महाप्रभु का चित्त प्रतिक्षण विह्वल रहा करता था, तथापि रथयात्रा के समय गौड़ीय भक्तों के पुरी आने पर उन्होंने अपने अन्तर के भावों को संयमित करके पूर्ववत ही लोगों के साथ नृत्य, गीत, संकीर्तन, महोत्सव तथा महाप्रसाद-ग्रहण आदि करते हुए आनन्द मनाया। इस प्रकार प्रभु के साथ चार महीने बिताने के बाद उनकी अनुमति लेकर भक्तगण गौड़देश लौट गये। उन लोगों के निवासकाल के दौरान प्रभु को बाह्यज्ञान रहता था, परन्तु उनके गौड़ीय भक्तों के विदा होते ही उनके चित्त में पुनः उन्माद का प्राबल्य हो उठा और रात-दिन उसमें श्रीकृष्ण के रूप-रस-गन्ध का स्फुरण होने लगा, मानो उन्हें श्रीकृष्ण के साक्षात स्पर्श का अनुभव होता हो।

उस समय तक चैतन्यदेव की दैनन्दिन जीवनचर्या पूर्व अभ्यासवश कुम्हार के चाक की नाईं अपने-आप चल रही थी, परन्तु भाव के अतिरेक से अब उसमें भी बाधा आने लगी। अपने प्रतिदिन के नियमानुसार एक दिन जब वे मन्दिर गये, तो

वहाँ सिंहद्वार के प्रमुख द्वारपाल ने चरण-वन्दना करते हुए उनका स्वागत किया। चैतन्यदेव ने भावावेश में द्वारपाल का हाथ पकड़ लिया और प्रेमपूर्वक व्याकुल स्वर में उससे कहने लगे, ''मेरे प्राणनाथ कृष्ण कहाँ हैं? मुझे कृष्ण दिखा दो!'' भक्तिमान द्वारपाल ने उनका भावावेश देखकर कहा, ''व्रजेन्द्रनन्दन यहीं पर हैं। मेरे साथ आइये, दर्शन करा देता हूँ।'' उसकी बात सुनकर महाप्रभु के प्राणों में उल्लास का संचार हुआ और वे बोले, ''तुम मेरे सखा हो! दिखाओ, मेरे प्राणनाथ कहाँ हैं?'' जगमोहन उनका हाथ पकड़कर मन्दिर के भीतर ले गया और बोला, ''ये रहे पुरुषोत्तम! आप जी भर उनके दर्शन कर लीजिए।'' इतना सुनते ही गरुड-स्तम्भ के पीछे खड़े चैतन्यदेव ने देखा कि जगन्नाथ जी अब मुरलीवदन हो गये हैं।

चैतन्यदेव प्राण भरकर अपने प्रियतम का दर्शन करने लगे। इसी बीच श्री जगन्नाथ का प्रातःकालीन 'गोपवल्लभ' भोग आरम्भ हुआ और तदुपरान्त आरती होने लगी। आरती के शंख-घण्टा आदि की ध्वनि से चैतन्यदेव में किंचित बाह्य-ज्ञान का स्फुरण दिखाई पड़ा। श्री जगन्नाथ के सेवकों ने प्रसादी माला लाकर उनके गले में पहना दी और भोग का थोड़ा-सा प्रसाद भी उनके हाथों में दे दिया। महाप्रभु ने जरा-सा प्रसाद जिह्वा पर रखकर बाकी गोविन्द को दे दिया। प्रसाद का आस्वादन करते ही उनका चित्त प्रेमाविष्ट हो गया। श्रीकृष्ण के अधरामृत के स्पर्श से ही प्रसाद इतना स्वादिष्ट हुआ है, ऐसा सोचकर वे प्रेमाश्रु बहाने लगे। श्री जगन्नाथ के सेवकों को सामने देखकर उन्होंने किसी प्रकार अपने भावों पर नियंत्रण किया, तथापि वे बारम्बार कहने लगे, ''सुकृतिलभ्य फेला लूँगा।'' इस पर जगन्नाथ जी के सेवक ने विस्मित होकर पूछा, ''इसका क्या अर्थ है ?'' महाप्रभु ने कहा, ''वही जो अभी अभी तुमने मुझे कृष्ण का अधरामृत प्रदान किया, वह अमृत से भी बढ़कर है, ब्रह्मादि के लिए भी दुर्लभ है। कृष्ण के भुक्तावशेष को फेला कहते हैं और इसका कणमात्र भी पानेवाला महाभाग्यवान है। सामान्य भाग्य से उसकी प्राप्ति नहीं होती। कृष्ण जिस पर पूर्ण कृपा करते हैं, वही उसे पाता है। कृष्णकृपा के मूल पुण्य को ही सुकृति कहते हैं और जिसके पास वह है, वही फेला पाकर धन्य होता है।''

श्री जगन्नाथ का उपलभोग देखने के बाद चैतन्यदेव अपनी कुटिया में लौटे और समुद्रस्नान के उपरान्त मध्याह्न भिक्षा ग्रहण करके विश्राम करने लगे। परन्तु उस प्रसाद के अमृतोपम स्वाद तथा कृष्ण के अधरामृत की स्मृति अन्तर में जाग्रत कर देने के कारण उनका मन सारे दिन प्रेम में मतवाला बना रहा। संध्याकृत्य के बाद वे

पुनः अपने अन्तरंगों के साथ एकान्त में बैठकर विविध प्रकार की बातें करने लगे। प्रभु का इंगित पाकर गोविन्द प्रसाद ले आया। उसमें से कुछ भाग पुरी और भारती को भेजने के बाद बाकी प्रसाद को उन्होंने रामानन्द, सार्वभौम, स्वरूप आदि के बीच वितरण कर दिया। प्रसाद के दिव्य सुगन्ध तथा माधुर्य का आस्वादन करके सबके मन में विस्मय का उदय हुआ। इस पर चैतन्यदेव बोले, "घी, चीनी, कपूर, इलायची, लवंग, मरिच, कबाबचींनी, दालचीनी आदि जिन उपादानों से यह चीज बनी है, वे सब साधारण चीजें हैं और हम सभी उनके स्वाद से परिचित हैं। परन्तु इस प्रसाद में जो अलौकिक स्वाद तथा गन्ध मिल रहा है, यह तो उन चीजों में नहीं रहता। श्रीकृष्ण के अधरस्पर्श के कारण ही प्रसाद अलौकिक स्वाद से परिपूर्ण हो गया है।" उनकी बातें सुनकर भक्तों के हृदय में परम आनन्द का संचार हुआ। वे लोग उल्लसित होकर हरिध्वनि करने लगे। तदुपरान्त महाप्रभु का संकेत पाकर रामानन्द राय श्रीमद् भागवत के इस श्लोक की आवृत्ति करने लगे, जिसमें श्रीकृष्ण के अधरामृत के माधुर्य का वर्णन हुआ है -

**सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।**
**इतररामविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ १०/३१/१४**

– गोपिकाएँ कहती हैं, 'हे वीर, शोक का नाशक तथा मिलन-सुख में वृद्धि करनेवाला, स्वरित वेणु से चुम्बित तुम्हारे अधरों का अमृत जिन्हें एक बार भी पान करने को मिला है, उनके बाकी समस्त आसक्तियों का विस्मरण हो जाता है।"

श्लोक सुनकर चैतन्यदेव विशेष आनन्दित हुए और स्वयं भी इसी भाव के श्लोकों की आवृत्ति तथा व्याख्या करते हुए भक्तों को प्रेमरस का आस्वादन कराने लगे। अधरामृत के माधुर्य का वर्णन करते समय उनके अन्तर में उसी रस की अनुभूति करने की उत्कण्ठा बढ़ती गयी और इसके साथ ही वे व्याकुल होकर विलाप करने लगे। वह तीव्र विलाप सुनकर श्रोताओं का हृदय विगलित हो उठा।

इसी प्रकार स्वरूप तथा रामानन्द के साथ श्रीकृष्ण-विषयक वार्तालाप करते हुए प्रायः प्रतिदिन ही रात हो जाती और तदुपरान्त वे दोनों उन्हें शयन कराने के बाद विदा होते। रामानन्द अपने घर को चले जाते और स्वरूप का आसन तो उसी कुटिया से लगा हुआ था। गोविन्द चैतन्यदेव की कुटिया के द्वार पर ही सोया करते थे। एक दिन गहरी रात के समय कुटिया में कोई आहट न पाकर उन्होंने स्वरूप को सूचित किया। स्वरूप जाकर कुटिया में प्रविष्ट हुए, परन्तु महाप्रभु वहाँ दिखे नहीं। इस पर सबका

चित्त उद्विग्न हो उठा। मशाल जलाकर वे लोग उन्हें चारों ओर खोजने लगे। काशी मिश्र के उद्यान के जिस अंश में वह कुटिया थी, वह चारों ओर प्राचीर से घिरा हुआ था और प्राचीर के तीन तरफ द्वार थे। उन लोगों ने देखा कि सभी द्वार भीतर से बन्द हैं और उन पर जंजीरें भी चढ़ी हुई हैं, अतः यदि वे प्राचीर के बाहर जाते, तो एक-न-एक द्वार अवश्य ही खुला हुआ मिलता। परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि भीतर बहुत ढूँढ़ने पर भी उनका पता नहीं लगा। इस कारण वे लोग और भी चिन्तित तथा व्यग्र होकर उन्हें बाहर जाकर तलाशने लगे। इधर-उधर अन्वेषण करते हुए आखिरकार वे लोग सिंहद्वार पर पहुँचे और प्रभु को वहाँ गायों के बीच पड़े हुए देखा। उनके हाथ-पाँव पेट के भीतर घुसे हुए थे और उनकी कूर्म आकृति हो गयी थी। मुख से फेन निकल रहा था, अंग पुलकायमान थे और नेत्रों से अश्रुधार बह रही थी। बाहर से जड़वत परन्तु भीतर से आनन्दविह्वल होकर वे कुम्हडे के समान अचेत पड़े हुए थे। गाएँ चारों ओर खड़ी होकर प्रभु के अंग सूँघ रही थीं और दूर करने का प्रयास करने पर भी उनके पास से हटना नहीं चाहती थीं। बहुत प्रयत्न करने पर भी जब उनकी बाह्यचेतना नहीं लौटी, तो भक्तगण उन्हें उठाकर कुटिया में ले चले।

निवासस्थान में उन्हें लाकर भक्तों ने संकीर्तन आरम्भ किया और उच्च स्वर में उनके कानों में नाम सुनाने लगे। इस प्रकार बड़ी देर तक नाम सुनाने के बाद महाप्रभु की चेतना लौटी और इसके साथ-ही-साथ उनके हाथ-पाँव प्रसारित होकर उनका शरीर स्वाभाविक अवस्था में आ गया। वे उठकर बैठ गये और विस्मयपूर्वक इधर-उधर देखने लगे। तदुपरान्त उन्होंने भाव-गद्गद स्वर में स्वरूप से पूछा, "मुझे कहाँ ले आये ? मैं तो वृन्दावन में गोपिकाओं के साथ कृष्ण की लीलाएँ, हास-परिहास और रंगरस देखकर आनन्दसागर में तैर रहा था। तुम लोगों ने बलपूर्वक वहाँ से लाकर मुझे उनसे वंचित कर दिया।" अत्यन्त दुखी होकर चैतन्यदेव ने स्वरूप से सान्त्वना प्रदान करने का संकेत किया। इस पर रसज्ञ स्वरूप ने भागवत से कृष्णवियोग से उन्मत्त गोपिकाओं के आक्षेपसूचक श्लोकों की आवृत्ति आरम्भ की। सुमधुर श्लोक सुनकर महाप्रभु के अन्तर का भाव और भी प्रगाढ़ हो गया। इस प्रकार दिन-पर-दिन परमप्रिय परमात्मा श्रीकृष्ण का दर्शन करते हुए तथा उनकी प्रेममाधुरी का रसास्वादन करते हुए प्रेमिक संन्यासी अपने मर्त्य-लोकवासी भक्तों को मायिक जगत के परे अप्राकृत दिव्य गोलोकधाम के केन्द्र में विद्यमान नित्य-वृन्दावन के माधुर्य की अनुभूति कराने लगे। ◻ (क्रमशः) ◻

# गुरुतत्त्व

*स्वामी भूतेशानन्द*

(गुरुतत्त्व के विषय में समाज में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई है। संघ के पिछले अध्यक्ष ब्रह्मलीन श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने अपने अन्तिम लेख में इस विषय पर प्रकाश डाला है। बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के जुलाई '९८ अंक से ब्रह्मचारी सुधीरचैतन्य ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है।)

गुरुपूर्णिमा के पावन अवसर पर भक्त लोग अपने अपने गुरुओं को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। गुरुपूर्णिमा को व्यास-पूर्णिमा भी कहते हैं। क्योंकि इसी तिथि पर व्यासदेव ने जन्म ग्रहण किया था। उत्तराखण्ड में मैने देखा कि इस दिन प्रत्येक साधु दूसरे साधुओं की गुरु रूप में पूजा करते हैं। बंगाल में इसका प्रचलन नहीं था, परन्तु आजकल देश में सर्वत्र गुरुपूर्णिमा बड़े उत्साह के साथ मनायी जाती है।

प्रश्न उठता है कि व्यासदेव की जन्मतिथि को गुरुपूर्णिमा क्यों कहा गया? संक्षेप में कहें तो वेदव्यास ने महाभारत के माध्यम से उपनिषदों के गहन-तत्त्व आम जनता के लिए सहज रूप में प्रस्तुत किये, इसीलिये वे गुरु रूप में पूजे जाते हैं। वेदों का विभाजन करने के कारण वे वेदव्यास के नाम से विख्यात हुए। फिर उन्होंने उपनिषदों के मूल-तत्त्वों को श्रृंखलाबद्ध करके ब्रंह्मसूत्र की रचना भी की। अठारह पुराण उन्हीं के द्वारा रचित कहे जाते हैं। गीता महाभारत एक अंश है, जिसमें सभी शास्त्रों के मूल-तत्त्व सहज रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। इनके अलावा एक संहिता-ग्रंथ भी है, जिसके रचयिता व्यासदेव कहे जाते हैं, जिसमें हिन्दुओं के आचार-व्यवहार-पद्धति का उल्लेख है। उन्नीस संहिताओं में 'व्यास-संहिता' भी एक है।

गुरुगीता में 'गुरु' शब्द के अर्थ की व्याख्या इस प्रकार की गई है –

**गुशब्दश्चान्धकार: स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधक: ।**
**अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ।। (२०)**

– 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रू' का अर्थ है निरोधक। जो अन्धकार या अज्ञान को दूर कर देते हैं, उन्हें 'गुरु' कहा जाता है। स्मृति में भी लिखा है –

**स गुरुर्य: क्रियाः क्रित्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।**
**उपनीय ददद्वेदमाचार्य्य: स उदाहृत: ।।**

**एकदेशमुपाध्याय ऋत्विग् यज्ञकृदुच्यते ।**

**एतै मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी ॥ (याज्ञव. संहिता १/३४-३५)**

– गर्भाधान से उपनयन तक संस्कार कराकर जो वेदाध्यन कराते हैं, वे 'गुरु' अर्थात् पिता है; जो केवल उपनयन संस्कार कराकर वेदपाठ कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं; जो वेद के किसी अंश का पाठ कराते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं और जो यज्ञ में सहायक होते हैं, उन्हें ऋत्विक् या आधुनिक भाषा में पुरोहित कहते हैं। इसी क्रम से ये सम्मान के भी अधिकारी होते हैं। और इनमें श्रेष्ठ स्थान माँ को दिया गया है। माँ से ही सन्तान की शिक्षा आरम्भ होती है, अतः वे ही श्रेष्ठ गुरु हैं।

तंत्र-मत के अनुसार जो साधना करानेवाले को तांत्रिक-गुरु और पौराणिक पद्धति से साधना की शिक्षा देनेवाले को पौराणिक-गुरु कहते हैं। आगे चलकर ये ही वंशानुक्रम से गुरुपद पर प्रतिष्ठित हुए और ऐसी प्रथा बन गयी कि कुलगुरु को छोड़ अन्य किसी को गुरु नहीं बनाया जा सकता। इसका भला पक्ष भी है और बुरा भी। भला यह है कि जो लोग वंशपरम्परा से गुरु होते हैं, वे शिष्य की भी वंशपरम्परा से परिचित होते हैं। अत: शिष्य की योग्यतानुसार शिक्षा देना उनके लिए सहज हो जाता है। फिर इस प्रथा में एक दोष यह है कि अयोग्य व्यक्ति भी परम्परागत गुरुपद पर आसीन हो जाते हैं।

गुरुस्तोत्र में गुरु उन्हें कहा गया है, जिन्होंने व्यक्ति के अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छन्न नेत्रों को जो ज्ञानरूपी शलाका से उन्मीलित कर दिया है –

**अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया ।**

**चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ (३)**

फिर 'श्रेष्ठ' अर्थ में गुरु शब्द का उपयोग किया गया है। व्यावहारिक जीवन की भाँति ही आध्यात्मिक जीवन में भी गुरु की विशेष आवश्यकता है। जीवन को अध्यात्म-मार्ग पर चलाने लिए एक जानकार पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है और ये पथप्रदर्शक ही गुरु हैं। शिक्षणीय विषयानुसार गुरु का चयन करना चाहिए। यथा, यदि 'ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति' हमारा उद्देश्य है, तो हमें ब्रह्मज्ञानी गुरु की ही शरण लेनी होगी। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है –

**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्**

**समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ (१/२/१२)**

गुरु कैसे हों – 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' – शास्त्र के ज्ञाता और ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हों। शिष्य को गुरु के समीप किस प्रकार जाना चाहिए ? 'समित्पाणिः'

अर्थात् गुरु की सेवा के लिए योग्य उपकरण आदि तथा सेवा का भाव लेकर गुरु के समीप जाना चाहिए। पुराण एवं उपनिषदों में विभिन्न स्थानों पर उल्लेखित है कि किसी विद्या को ठीक ठीक जानने के लिए उस विद्या के जानकार व्यक्ति के पास जाना चाहिए और विशेषकर अध्यात्म-विद्या के सम्बन्ध में निर्देश है कि जो संसार के दुःखानल से पीड़ित है, उसे इसकी निवृत्ति हेतु गुरु के पास जाकर निष्ठापूर्वक सदुपदेश के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। विवेक-चूड़ामणि में कहा गया है –

**कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः।**
**जाने न किञ्चित् कृपयाऽव मां प्रभो संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥ (४०)**

– हे प्रभो, किस उपाय से हम इस संसार-समुद्र को पार करेंगे? हमारा प्रकृत आश्रय कहाँ है? और मैं कौन-सी साधना-पद्धति अपनाऊँ? यह सब मैं कुछ नहीं जानता। कृपया मेरी रक्षा कीजिए और संसार-दुःख के क्षय का उपाय बता दीजिए।

ये दुःख जब मनुष्य के मन को कष्ट देते हैं, तभी मनुष्य स्वयं को गुरु के चरणों में समर्पित करता है तथा गुरु भी कृपा करके उसे आश्वस्त करते हुए इस भवसागर से पार होने के उपायों का उपदेश देते हुए उसके अज्ञान-अन्धकार को दूर कर देते हैं। शिष्य को वे दो प्रकार की पद्धतियों से शिक्षा दे सकते हैं। पहली है – आत्म केन्द्रित विचार और दूसरी है – जगत केन्द्रित विचार। पहली Subjective है और दूसरी Objective। Subjective या आत्मकेन्द्रित अर्थात 'मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या हैं?' इस तरह विचार करना। जो 'मैं' परिवर्तनशील है, वह वास्तविक 'मैं' नहीं है, नहीं तो हम परिवर्तन के ज्ञाता नहीं हो पाते। परिवर्तन का ज्ञाता होने के लिये हमें सत्ता-परिवर्तन से भिन्न, अपरिणामी होना होगा। इस परिवर्तन के पीछे जो अपरिवर्तनशील वस्तु है, जो समस्त परिवर्तनों का ज्ञाता है, उसे विचार के द्वारा पकड़ना होगा। तब धीरे-धीरे हमारे स्वरूप पर आरोपित सत्ताएँ हट जायेंगी और एकमात्र शुद्ध 'मैं' अवशिष्ट रह जायेगा और क्क़ल्त्त्स्ख्ल या जगत-केन्द्रित विचार होगा – दृश्यमान जगत का स्वरूप क्या है ? विचार करना कि हम इन्द्रियों के द्वारा जिस जगत का अनुभव करते हैं, उसकी सीमा कितनी दूर तक है ? वस्तुओं को इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सकता है। परन्तु इन्द्रियों को कैसे जानोगे ?

**यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (केनोपनिषद १/६)**

मन के द्वारा जब हम किसी परिवर्तनशील वस्तु को जानते हैं , तब उसके कारण को खोजना होगा। क्योंकि परिवर्तनशील के पीछे अपरिवर्तनशील सत्ता न रहे तो

परिवर्तनशील को नहीं जान सकते। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ आदि बदलते हुए अनुभवों के पीछे यदि एक अपरिवर्तनशील सत्ता न हो, तो ये परिवर्तनशील अनुभव नहीं होंगे। अपरिवर्तनशील ज्ञानस्वरूप के द्वारा ही ये परिवर्तन प्रकाशित होते हैं। विषयों का ज्ञाता विषयों से भिन्न होगा। अत: इनके पीछे एक ज्ञान या अपरिणामी अर्थात् उत्पत्ति-विनाश-रहित सत्ता का रहना अनिवार्य है। यह ज्ञान स्वप्रकाश है। क्योंकि विषय को ज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। परन्तु ज्ञान को हम किसके द्वारा जानेंगे? ज्ञान स्वप्रकाश है, उसे जानने हेतु किसी अन्य ज्ञाता की अपेक्षा नहीं होती।

जगत पर विचार करते हुए हमें वस्तु तक पहुँचना होगा। जगत का अर्थ है – इन्द्रियग्राह्य विषय। उनका अनुभव करने से हम देखेंगे कि उनके भीतर निहित उपादानों के समन्वय से ही वस्तुओं की उत्पत्ति हो रही है। इन समन्वयों को कैसे जानेंगे ? बुद्धि के द्वारा। बुद्धि को कैसे जानेंगे? आत्मा के द्वारा। और यह आत्मा स्वप्रकाश है। इस प्रकार विचार करके आत्मा तक पहुँचा जा सकता है।

जैसे सच्चे गुरु में कुछ विशेष गुण रहना आवश्यक है, वैसे ही शिष्य में भी कुछ विशेष गुण होना आवश्यक है। तभी गुरु के निर्देश सार्थक होंगे। वे गुण हैं – पवित्रता, गुरु के प्रति श्रद्धा और उनकी वाणी में विश्वास।

**दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।**
**मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रय: ।। (विवेक-चूड़ामणि, ३)**

संसार में ये तीन चीजें दुर्लभ हैं और दैवकृपा से ही इनकी प्राप्ति होती है – पहला है मनुष्य-जन्म, दूसरा मुमुक्षुत्व या मुक्ति की इच्छा और तीसरा है महापुरुषों का संग। प्रथमतः, शास्त्रों के मतानुसार मनुष्य-जन्म दुर्लभ है – '**जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्।**' (वही, २)। अनेक जन्मों या योनियों से गुजरने के पश्चात ही मनुष्य-योनि की प्राप्ति होती है। और फिर मनुष्य-जन्म प्राप्त करके भी सबमें तत्त्व को जानने का आग्रह नहीं होता, मुक्ति की आकांक्षा नहीं होती। मुक्ति की आकांक्षा यदि रहे तो कुछ प्रगति हुई। तत्पश्चात् महापुरुष के साथ योग। महापुरुष या उत्तम गुरु वे हैं, जो मुक्ति का रास्ता बता सकें। महापुरुष-संग का तात्पर्य उनके साथ रहना मात्र नहीं, बल्कि उनके भावों को धारण करने का प्रयत्न करना है। लीलाप्रसंग में लिखा है, "श्रीरामकृष्ण जब दक्षिणेश्वर में थे तब दक्षिणेश्वर के आसपास के लोगों ने ठाकुर का कितना संग किया। इसके अलावा कालीबाड़ी के कर्मचारी भी तो सर्वदा उन्हें देखते थे, परन्तु उनमें से किसी के भी जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आया।"

अतः 'संग' का अर्थ केवल समीप रहना नहीं, बल्कि उनके भावों को हृदय से ग्रहण करने का आग्रह तथा ग्रहण करने की सामर्थ्य होनी चाहिए, अन्यथा कुछ भी न होगा। इसलिए उसे 'साधन-चतुष्टय-सम्पन्न' तथा 'श्रद्धा' अर्थात् आस्तिक्य-बुद्धि ये युक्त होना होगा। 'वेदान्तसार'(६) में अधिकारी के लक्षण बताते हुए कहा गया है —**अधिकारी तु विधिवदधीत वेदवेदाङ्गत्वेन आपाततः अधिगताखिल- वेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता** — जो यथानियम वेद-वेदान्त का अध्ययन करता है, उनके सामान्य तात्पर्य से परिचित है, जन्म-जन्मान्तर में काम्य तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मो का परित्याग और नित्य-नैमित्तिक तथा प्रायश्चित कर्मों का अनुष्ठान करके निष्पाप तथा शुद्धचित्त हो गया है, ऐसा साधन-चतुष्टय-सम्पन्न व्यक्ति ही शिष्य होने का सच्चा अधिकारी है।

गुरु किसको ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं ? आचार्य शंकर बताते हैं —

**प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।**
**गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे॥ (उपदेश., प्रा. ७२)**

— जो प्रशान्त चित्तवाला है, जितेन्द्रिय है, काम-क्रोधादि दोषों से मुक्त और एकान्तप्रिय हो, ऐसे मुमुक्षु व्यक्ति को ही गुरु ब्रह्मविद्या प्रदान करेंगे।

प्रश्न उठता है कि गुरु कैसे हों? उनमें क्या गुण हों ? प्रधान गुण यह है कि वे शास्त्रज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठ हों। उनका आचरण शास्त्रसम्मत हो। वे स्वार्थबुद्धि रहित होकर, शिष्य के प्रति करुणार्द्रचित्त हो उसे अज्ञान समुद्र से उद्धार का उपदेश देंगे। 'श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ' — इन दो गुणों के विषय में कहा गया है कि यदि शास्त्रज्ञान नहीं है, तो वे वास्तविक ज्ञान को नहीं समझ सकते और यदि ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं, तो संशय दूर नहीं होगा। व्यावहारिक-जीवन के गुरु तथा आध्यात्मिक-जीवन के गुरु में यही भेद है। व्यावहारिक जीवन में गुरु के चरित्र या जीवन पर विचार न करने से भी चलता है। यदि वे अपनी ज्ञात विद्या को समझा सकें, इतना ही पर्याप्त है। परन्तु आध्यात्मिक जीवन में गुरु को '**श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो**' — शास्त्रज्ञ, निष्पाप, कामगन्धशून्य तथा स्वार्थबुद्धिरहित होना होगा।(वि. चू. ३३) ऐसे व्यक्ति ही सच्चे गुरु या सद्गुरु हो सकते हैं। पवित्रता ही आध्यात्मिक जीवन का प्रधान गुण है।

जिनसे साधना-पथ पर चलने में सहायता प्राप्त हो, उन्हें ही गुरु कहा जाता है। तो ब्रह्मज्ञ गुरु और साधारण गुरु क्या एक ही उद्देश्य की सिद्धि करते हैं ? नहीं, ऐसा

नहीं है। जो हृदय में रहकर सबको प्रेरणा दे रहे हैं, वे ही असली गुरु हैं।

**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।**
**गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ (गुरुगीता, २६)**

यहाँ गुरु शब्द का अर्थ यह है कि ईश्वर ही गुरु हैं। जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, ''सच्चिदानन्द ही गुरु के रूप में आते हैं। मनुष्य-गुरु से यदि कोई दीक्षा लेता है, तो उन्हें मनुष्य मानने से कुछ नहीं होगा। उन्हें साक्षात ईश्वर समझना होगा, तभी तो मंत्र पर विश्वास होगा।'' हम इष्ट के प्रति जैसी भक्ति करते हैं, गुरु के प्रति भी वैसी ही भक्ति करनी होगी। उपनिषद में कहा गया है –

**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
**तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ (श्वेताश्वतर. ६/२३)**

– जिसकी देवता के प्रति परा भक्ति है एवं गुरु के प्रति भी वैसी ही भक्ति है, उसके समक्ष तत्त्व यथार्थ रूप से प्रकट होता है।

सामान्यतः हम इष्ट की ठीक धारणा नहीं कर पाते, इसीलिए बाह्य गुरु की सहायता से इष्टगुरु की खोज में अग्रसर होते हैं। गुरु समझते हैं कि शिष्य को किस पथ पर परिचालित करना होगा तथा उसे किस लक्ष्य तक पहुँचाना होगा। इसीलिए सहायक के रूप में गुरु की जरूरत होती है। ठाकुर के शिष्यगण कहते थे, ''एक बार गुरु चुन लेने के बाद उन्हें प्राणपण से अपना लेना चाहिए, उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा-विश्वास रखना चाहिए, नहीं तो स्थिर नहीं, चंचल तथा संशयग्रस्त होगा।

बन्धन का अनुभव हुए बिना मुक्ति की आकांक्षा ही नहीं होती। अतः बन्धन का अनुभव आवश्यक है। जगत में अधिकांश लोगों को इसका अनुभव नहीं होता। गीता में भगवान कहते हैं –

**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।**
**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (७/३)**

– हजारों में कोई दो-एक व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। और ऐसे हजारों जिज्ञासुओं में भी कोई भाग्यवश ही उस परम तत्व को जान पाते हैं।

आम तौर पर लोग सांसारिक सुख-समृद्धि चाहते हैं। भगवान (९/३३) कहते हैं – 'अनित्यं असुखं लोकम्' – यह जगत अनित्य तथा दुखमय है। तो भी इसका बोध हमें नहीं रहता। हम सोचते हैं कि बड़े मजे में हैं। अपने दुख के विषय में हम सजग नहीं हैं। ठाकुर कहते हैं – तालाब में धीवरों ने जाल फेंका है। उस जाल में

फँसी हुई कुछ मछलियों को तो होश ही नहीं है कि वे जाल में फँस गयी हैं। वे जाल-समेत मुँह को मिट्टी में दबाये पड़ी रहती हैं और सोचती हैं – हम बड़े मजे में हैं। परन्तु वे जानतीं नहीं कि थोड़ी देर बाद ही मछुवारा उन्हें घसीटकर बाहर निकालेगा और उनके प्राण निकल जाएँगे। उनमें मुक्ति की इच्छा है ही नहीं। अत: मुक्ति की इच्छा न रहे, तो गुरु बनाने से भी कोई फल नहीं होता। इसीलिए बन्धन का बोध हमें सर्वदा जाग्रत रखना होगा तथा शुश्रूषु – सेवापरायण होकर विनीत भाव से गुरु के पास जाना होगा। गीता में कहा गया है –

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन: ॥ (४/३४)**

– तत्त्वदर्शी श्रीगुरु के चरणों में प्रणाम करके, प्रश्नों तथा उनकी सेवा के द्वारा वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

गुरु की प्रत्यक्ष सहायता के बिना भी ब्रह्मज्ञान हो सकता है। परन्तु सामान्य नियम के अनुसार गुरु से शिक्षा प्राप्त करना ही शिष्य के लिए अधिक कल्याणकारी है। क्योंकि बहुधा मार्ग से भटक जाने की सम्भावना रहती है। इससे बचने के लिए सच्चे पथ-प्रदर्शक की जरूरत होती है। किन्तु गुरु के आचार-व्यवहार पर ज्यादा सिर न खपाकर, उनके उपदेशों का पालन करना तथा उनके आदर्श के अनुरूप जीवन बिताना – यही शिष्य की मुक्ति का उपाय है।

साधना-काल में गुरु जैसा उपदेश दें, शिष्य को उन्हीं का पालन तथा गुरु की सेवा करते हुए क्रमशः लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहिए। इससे मन के भीतर की सारी अशुद्धियाँ तथा बुरे भाव धीरे धीरे दूर हो जायेंगे। ऐसा करते करते मन जब शुद्ध-पवित्र होगा, तब वही इष्ट-स्वरूप बन जाएगा। फिर बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। तब अपने भीतर से ही समस्त प्रेरणा एवं प्रश्नों के उत्तर आने लगेंगे। यही है मन का गुरु होना। तब गुरु, कृष्ण तथा वैष्णव एक हो जायेंगे। कृष्ण अर्थात् इष्ट, गुरु अर्थात् इष्ट-पथ में सहायक या उपदेशक तथा वैष्णव अर्थात् साधक – जो गुरु के उपदेश को धारण करने का प्रयत्न करता है। साधना-मार्ग में क्रमश: आगे बढ़ते बढ़ते जब मन शुद्ध हो जाता है, तब ऐसा बोध होने लगता है कि जो साधक है, वही उपदेशक है और वही इष्ट भी है। सभी मनुष्यों में ये गुरु सुप्त रूप से विद्यमान हैं। '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**' (गीता, ५/१५)। मन अशुद्ध होने के कारण वे मात्र ढँके हुए हैं। मन के शुद्ध होते ही वे प्रकट हो उठेंगे। परन्तु इसके लिए विचारशील मन की आवश्यकता है, क्योंकि संसार में विषयों के प्रति आकर्षण सहज-स्वाभाविक है।

और साथ ही यदि विचार किया जाय कि ये भोग आदि अनित्य हैं, इनके द्वारा मेरी पारमार्थिक उन्नति नहीं, बल्कि उसमें बाधा ही होगी। तब धीरे धीरे इन विषयों के प्रति आसक्ति घंट जायेगी। आसक्ति के दूर होते ही ज्ञानप्राप्ति की स्पृहा में वृद्धि होगी और तब ज्ञान-सूर्य का उदय होगा।

कोई कोई कहते हैं, 'आप ही कर दीजिए।' कोई दूसरा इसे नहीं कर सकता। अपनी साधना स्वयं ही करनी होगी। गीता (६/५) में कहा गया है – **उद्धरेत् आत्मनाऽत्मानम्** – अपना उद्धार स्वयं ही करना होगा। मन के शुद्ध होने तक ही गुरु सहायता कर सकते हैं। मन शुद्ध होते ही आन्तरिक गुरु का प्रकाश धीरे धीरे प्रकट हो उठेगा। तब सारे संशय दूर हो जायेंगे और अज्ञान-ग्रन्थि छिन्न हो जायेगी – **भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यते सर्वसंशयाः** (मुण्डकोपनिषद्, २/२/८)।

किसी विषय में संशय होने पर समाधान हेतु मैं स्वामी सारदानन्दजी महाराज के पास जाया करता था। एक बार ऐसे ही एक प्रश्न पूछने पर वे बोले, "सब कुछ क्या मुझसे ही पूछना होगा ? भीतर से उत्तर मिलेंगे।" ठाकुर कहा करते थे, "गुरु, कृष्ण, वैष्णव – तीनों की दया हुई, तो भी एक अर्थात मन की दया न होने पर जीवन ही व्यर्थ हो जाता है। यदि यह मन स्थिर तथा शान्त नहीं हुआ, अशुद्ध विचार नहीं गये, तो हजारों उपदेशों से भी कुछ नहीं होगा।"

अपने गुरु को दूसरे के गुरु से पृथक नहीं समझना चाहिए। जो मेरे गुरु हैं, वे ही सबके गुरु हैं, ऐसा उदार भाव आवश्यक है। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे – "मनुष्य गुरु नहीं हो सकता। भगवान की इच्छा से ही सब कुछ हो रहा है।" (वचनामृत, १/१६०) और भी कहा है, "एकमात्र सच्चिदानन्द ही गुरु हैं। उन्हें छोड़ कोई उपाय नहीं है । वे ही एकमात्र भवसागर के कर्णधार हैं।"

गुरुगीता (३७) में है – **मन्नाथः श्रीजगन्नाथो मद्गुरुःश्रीजगद्गुरुः** – मेरे इष्ट ही जगत के इष्ट और मेरे गुरु ही जगद्गुरु हैं। वे सर्वव्यापी हैं और सर्वदा भीतर से प्रेरणा देते रहते हैं – सर्वदा ऐसी भावना जाग्रत रखनी होगी। अहंबुद्धि चले जाने पर ही ऐसी भावना दृढ़ होती है। प्रश्न उठता है कि क्या जन्म-जन्मान्तरों में एक ही गुरु होते हैं ? नित्य गुरु ही सर्वदा विद्यमान रहते हैं और एक बार उनका अनुभव कर लेने पर सारे शोक-दुख चले जाते हैं। कठोपनिषद् में है –

**अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।**
**महान्तं विभूमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति। (१/२/२२)**

– जो स्वयं शरीरधारी नहीं है, परन्तु समस्त जीवों के शरीर-मन में विराजमान है और परितर्वनशील जगत में रहकर भी नित्य अपरिवर्तनशील है, उस सर्वव्यापी, बहुरूप में अवस्थित आत्मा को जानकर मनुष्य शोकरहित हो सकता है।

परन्तु जन्म-जन्मान्तर में मनुष्य गुरु एक ही होंगे, ऐसी बात नहीं। क्योंकि उनकी भी तो जन्म-मृत्यु होती है। तथापि साधक की साधना के कुछ संस्कार रह जाते हैं अर्थात् वह गुरु के उपदेशानुसार साधना करके जहाँ तक पहुँच जाता है, उसका संस्कार रह जाता है और उसी के साथ उसका आगामी जन्म होता है। इस प्रकार साधक आध्यात्मिक जीवन में क्रमशः अग्रसर होता रहता है। गीता (७/१९) में है **–बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते** – अनेक जन्मों की साधना के फलस्वरूप साधक ईश्वर का शरणागत होता है। भगवत् विषय के ज्ञाता सिद्ध गुरुप्राप्ति अति दुर्लभ है। और सिद्ध गुरु मिलने पर भी साधक साधना के लिए उत्साही न हो तो उसकी सिद्ध गुरु की प्राप्ति निष्फल होती है। कठोपनिषद् (१/२/७) में आचार्य तथा शिष्य के सम्बन्ध में कहा गया है **–आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः**। आचार्य '**आश्चर्यो वक्ता**' होंगे, क्योंकि वे ब्रह्म के विषय में उपदेश देते हैं। आश्चर्य अर्थात् असाधारण – जो साधारण नहीं, बल्कि दुर्लभ हैं। और इस ब्रह्मविद्या का उपदेश सुनकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाले शिष्य को भी कुशल होना चाहिए। कुशल अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सके तथा जिसमें गुरु के निर्देशों को हृदयंगम करने के लिए धारणा-शक्ति हो। और '**आश्चर्यो ज्ञाता**' – ऐसा व्यक्ति भी दुर्लभ है, जिसने कुशल गुरु से उपदेश प्राप्त कर तत्त्वज्ञान हासिल किया हो। यहाँ आश्चर्य का अर्थ है – दुर्लभ तथा कुशल – ऐसा व्यक्ति जो उपदेश ग्रहण करने में समर्थ हो।

तत्त्वज्ञान रहित व्यक्ति यदि उपदेश दे तो वह केवल उपदेश मात्र ही होगा। **अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः** – जैसे एक अन्धा एक दूसरे अन्धे को पथ दिखाये (कठोपनिषद्, १/२/५)। जो उपदेश दे रहा है और जिसे उपदेश दिया जा रहा है – दोनों ही अन्धे हैं। वचनामृत में श्रीरामकृष्ण कहते हैं – यदि सद्गुरु हो, तो जीव का अहंकार तीन ही पुकार में दूर हो जाता है। और यदि गुरु कच्चा हुआ, तो गुरु की भी दुर्दशा होती है और शिष्य की भी, शिष्य का अहंकार दूर नहीं होता और न उसके भव-बन्धन की फाँस ही कटती है। कच्चे गुरु के पल्ले पड़ा, तो शिष्य मुक्त नहीं होता।

मेंढक और कौड़ियाले साँप का उदाहरण देकर ठाकुर कहते हैं, "एक दिन मैं

पंचवटी के निकट झाऊतले जा रहा था। एक मेंढक की आवाज सुनाई दी – जान पड़ा कि साँप ने पकड़ा है। काफी देर बाद लौटने लगा तब भी उस मेंढक की पुकार जारी थी। बढ़कर देखा तो दिखाई दिया कि एक कौड़ियाला साँप उस मेंढक को पकड़े हुए है – न छोड़ सकता है, न निगल सकता है। उस मेंढक की भी भवव्यथा दूर नहीं हो रही है। तब मैंने सोचा कि यदि कोई असल साँप पकड़ता तो तीन ही पुकार में इसको चुप हो जाना पड़ता। इसे कौड़ियाले ने पकड़ा है, इसीलिए साँप की भी दुर्दशा है और मेंढक की भी।'' (वचनामृत, १/१९०-९१) अर्थात् योग्य गुरु यदि नहीं मिले, तो दुखों का अन्त नहीं होगा, दुख लगे ही रहेंगे और यदि शिष्य योग्य नहीं है तो वह गुरु के उपदेशों को ठीक से धारण भी नहीं कर सकता ।

तब उपदेश कल्याणकारी न होकर, हानिकारी होने की सम्भावना हो सकती है। विरोचन के प्रसंग में इसका प्रमाण मिलता है। एक बार प्रजापति ने कहा - **य आत्माऽपहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिधत् सोऽपिपास: सत्यकाम: सत्यसंकल्प: । (छांदोग्य, ८/७/१)** – जो व्यक्ति इस आत्मा को पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्य-संकल्प रूप से जानता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त काम्य वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है। इन्द्र और विरोचन दोनों आत्मज्ञान की इच्छा से समिधा लेकर प्रजापति के पास पहुँचे और बत्तीस वर्ष तक उनसे ब्रह्मचर्य-पालन कराने के पश्चात गुरु ने पूछा – **किमिच्छन्तो अवास्तमिति तौ (छा. उ., ८/७/३)**। दोनों ने आत्मविद्या की याचना की। प्रजापति ने उपदेश देते हुए कहा - **य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति (छा., ८/७/४)** – यह जो पुरुष नेत्रों में दिखाई देता है, यही आत्मा है। और भी कहा – **एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति** – यह अमृत, अभय और यही ब्रह्म है।

प्रजापति ने एक पात्र में जल लेकर पूछा - इसमें क्या देख रहे हो? उन्होंने उत्तर दिया – हम इसमें अपने सम्पूर्ण शरीर – नख, केश आदि का प्रतिबिम्ब देख रहे हैं। प्रजापति ने कहा, 'यही अमर, अभय आत्मा है, यही ब्रह्म है।' आत्मा को जान लिया, ऐसा समझकर वे दोनों चले गये। 'नेत्रान्तर्गत पुरुष' कहकर प्रजापति चैतन्य का स्वरूप बताना चाहते थे, परन्तु उसका मर्मार्थ समझे बिना ही इन्द्र तथा विरोचन को जाते देख प्रजापति हँसने लगे। विरोचन ने जाते जाते निष्कर्ष निकाला कि आँख में मनुष्य के देह की परछाई पड़ती है और जल में भी मनुष्य के देह की ही छाया पड़ती है। अत: यह देह ही आत्मा है। इस लोक में देहरूप आत्मा की पूजा-सेवा

करने से परलोक पर विजय पाया जा सकता है। विरोचन ने लौटकर असुरों के बीच इसी विद्या का प्रचार किया – अपने शरीर को पुष्ट और रोगमुक्त करो; इसी से तुम अमृत या अभय के अधिकारी हो जाओगे। पर इन्द्र ने विचार किया कि देह में परिवर्तन के साथ साथ प्रतिबिम्ब भी परिवर्तित होता है, अत: देह आत्मा नहीं हो सकती। आत्मा तो अजर, अमर, अपरिवर्तनीय है। इसलिए इन्द्र ने फिर प्रजापति के पास जाकर उपदेश के लिए प्रार्थना की। इस प्रकार इन्द्र सच्चा आत्मज्ञान प्राप्त करके देवताओं के पास लौट गए। विरोचन आत्मज्ञान से वंचित रह गये। वे तथा असुरगण शरीर को ही लेकर रह गये।

अयोग्य शिष्य की हालत ऐसी ही होती है। किसी भी विद्या की प्राप्ति में योग्यता आवश्यक है। गुरु भी शिष्य में श्रद्धा तथा निष्ठा देखकर करुणावश उसे शिक्षा देकर ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (६/८/७) में गुरु कहते हैं – **स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो** – यह सूक्ष्म वस्तु ही जगत का स्वरूप है, यही सत्य वस्तु है, यही आत्मा है, इसी को जानो; हे श्वेतकेतो, तुम वही हो। इस प्रकार गुरु उद्दालक विभिन्न दृष्टान्त देकर आरुणि श्वेतकेतु को समझाते हैं। श्वेतकेतु बारम्बार कहते हैं – मुझे फिर समझाइये। तब गुरु ने कहा – **श्रद्धत्स्व सोम्येति** – हे सौम्य, श्रद्धा का आश्रय लो।'(६/१२/२) गीता में श्रद्धा के विषय में कहा गया है – **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् तत्पर: संयतेन्द्रिय:। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** – श्रद्धावान अर्थात् आस्तिक्य-बुद्धिसम्पन्न, आलस्यरहित, एकनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है; ज्ञान होने पर परम शान्ति प्राप्त होती है। अब उसके विपरीत आचरणवाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में कहा गया है –**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन:** – अज्ञानी, श्रद्धाहीन तथा संशयी व्यक्ति विनाश को प्राप्त करता है। शंकालु के लिए इहलोक, परलोक तथा सुख – कुछ भी नहीं है। (४/३९-४०) श्रद्धा के बिना, केवल तर्क-विचार के द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। श्रुति कहती है – **नैषा तर्केण मतिरापनेया** – इसे तर्क से नहीं प्राप्त कर सकते। और **न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान:** – यदि कोई अयोग्य व्यक्ति आत्मज्ञान का उपदेश दे भी, तो वह किसी काम का नहीं होता। (कठ., १/२/८, ९) अतएव सद्गुरु की कृपा पाने की योग्यता अर्जित करनी होगी और जी-जान से प्रयत्न करना पड़ेगा।

श्रीरामकृष्ण की एक उक्ति है – मानव-गुरु मंत्र देते हैं कानों में और जगद्गुरु देते हैं प्राणों में। मानव-गुरु स्वयं भी अपूर्ण है। वे प्रचलित प्रथा के अनुसार केवल उपदेशों के द्वारा शिष्य की सहायता कर सकते हैं। इसी को ठाकुर कानों में मंत्र देना कहते हैं। और जगद्गुरु प्राणों में देते हैं अर्थात् अन्तर में प्रेरणा जाग्रत करते हैं। इसके लिए भाषा या अनुष्ठान आदि किसी बाह्य सहायता की भी आवश्यकता नहीं होती। वे अनायास ही हृदय में प्रेरणा जगा देते हैं। यही सच्ची उपलब्धि है। कभी कभी मनुष्य-गुरु का उपदेश ठीक-ठीक ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। फिर वे अन्तर में प्रेरणा भी नहीं दे सकते। परन्तु जगद्गुरु अर्थात् अन्तर्यामी जो सभी को प्रेरणा दे रहे हैं, वह अमोघ है, वह प्रेरणा कभी निष्फल नहीं हो सकती।

इस प्रकार से विवेचना करने पर हम पाते हैं कि उपनिषदोक्त श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही धर्मपिपासु शिष्य की साधना को सार्थक रूप देने में समर्थ हैं। दूसरे सामान्य गुरुओं में से कोई-कोई शिष्य की साधना में आंशिक रूप से सहायता कर सकते हैं। किन्तु प्राय: ही शिष्य की साधना को सार्थक नहीं कर सकते।

श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण उन्हें एकाधार में गुरु तथा इष्ट कहते थे। इसलिए उनकी परम्परा में कोई भी गुरु स्वयं को गुरु नहीं मानते। वे अपने को श्रीरामकृष्ण की साधना-प्रणाली के धारक और वाहक मात्र मानते हैं।

प्रत्येक साधक को स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर-प्राप्ति ही उसकी साधना का लक्ष्य है। यह अत्यन्त कठिन है, पर असम्भव नहीं। अतः गुरु के निर्देशानुसार धैर्यपूर्वक साधना करते रहना होगा। आन्तरिक भाव से करते करते उसमें सार्थकता अवश्य आयेगी। किन्तु किसी निर्दिष्ट समय के भीतर साधना में पूर्णता सम्भव नहीं है। निष्ठा रहे तो साधक एक-न-एक दिन भगवत्कृपा से अवश्य ही लक्ष्य तक पहुँचेगा। आन्तरिक प्रयास कभी विफल नहीं होता। भगवद्गीता (९/३१) में कहा है – **कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति** – हे अर्जुन, जान रखना कि मेरे भक्त का विनाश नहीं होता। इसी विश्वास को पकड़कर आन्तरिक रूप से प्रयत्न करते रहना होगा, तभी लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव होगा।

# माँ के सान्निध्य में (४१)

***सरयूबाला देवी***

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। – सं.)

**मंगलवार, ६ अप्रैल १९१८**

आज जाकर देखा तो माँ उत्तर की ओर के बरामदे में बैठी जप कर रही हैं। थोड़ी देर बाद पाँच-छह महिलाएँ माँ से मिलने आयीं। उनके ठाकुर-प्रणाम करके बैठते ही माँ ने अपना जप समाप्त करके उनसे पूछा कि वे कहाँ से आ रही हैं। नलिनी ने उनका परिचय दिया। सुना कि उनमें से एक के पेट में ट्यूमर है, चिकित्सा हेतु आयी हैं। डॉक्टर ने कहा है कि अस्त्रोपचार करना होगा। सुनकर उन्हें बड़ा भय हुआ है। न जाने क्यों माँ ने उनमें से किसी को पाँव छूकर प्रणाम नहीं करने दिया। उनके बारम्बार प्रार्थना करने पर भी उन्होंने राजी न होते हुए कहा, "उस चौखट से धूल ले लो।" फिर उन लोगों ने बीमार महिला को दिखाकर कहा, "आप आशीर्वाद दीजिए कि वह ठीक हो जाय और पुन: आपके दर्शन पा सके!" माँ उन्हें आश्वस्त करते हुए बोलीं, "ठाकुर को अच्छी तरह प्रणाम करो, वे ही सब हैं।" बाद में वे थोड़ी अधीरता के साथ बोलीं, "तो फिर तुम लोग अब चलो, रात हो गयी है।" उन लोगों के ठाकुर-प्रणाम करके चली जाने पर माँ ने कहा, "गंगाजल छिड़ककर कमरे में झाड़ू लगा डाल, अब ठाकुर का भोग उठेगा।" आदेश का पालन हो जाने पर माँ उठकर नीचे आयीं और बिस्तर पर लेटने के बाद मेरे हाथ में पंखा देकर बोलीं, "हवा कर तो बेटी, शरीर जल गया! प्रणाम करती हूँ तेरे कलकत्ते को। कोई कहता है मुझे यह दु:ख है, कोई कहता है मुझे वह दु:ख है, अब और सहन नहीं होता। कोई न जाने क्या क्या करके आते हैं, तो किसी के पचीस बाल-बच्चे हैं, उनमें से दस मर गये इसलिए रो रही है – मनुष्य नहीं, सब पशु हैं – पशु! संयम का नाम तक नहीं! इसीलिए ठाकुर कहा करते थे, 'अरे, एक सेर दूध में चार सेर पानी है, फूँकते फूँकते मेरी आँखें जल गयीं! मेरे त्यागी भक्तो! कहाँ हो तुम लोग, आओ तुमसे बातें करके प्राण बचे।' ठीक ही कहते थे। जोर से हवा कर बेटी, आज चार बजे से ही लोग आ रहे हैं, उनका दु:ख देखा नहीं जाता!

"अहा! आज बलराम की पत्नी भी आयी थी, बाबूराम के लिए कितना रोयी। बोली, 'यह क्या मेरा ऐसा-वैसा भाई है!' ठीक ही तो है बेटी, देवता भाई था।"

थोड़ी देर बाद उन्होंने तेल की मालिश कर देने को कहा । मालिश करते करते मैंने कहा, "माँ, भक्तों के खाने के लिए मैं दाल पकाकर लायी हूँ ।" माँ बोलीं, "अच्छा किया है, राखाल ने भी कुछ भेजा है ।"

इसके पूर्व राधू के पति ने कुछ विशेष खाने की इच्छा व्यक्त की थी । किसी के वही प्रसंग उठाने पर माँ ने कहा, "इस समय कैसे हो सकता है? मेरा बाबूराम चला गया है, सबका मन दु:खी है । यह ठाकुर का घर है, इसीलिए कामकाज सब चल रहा है, नहीं तो रोने-पीटने की आवाज से पूरा मकान भर जाता, क्या कोई उठ पाता! लेकिन खाने की इच्छा व्यक्त की है, तो देना ही होगा । सो ये लोग यदि पका कर लायें, तो हो सकता है ।" इतना कहकर मेरी ओर देखते ही मैंने कहा, "जमाई यदि हम लोगों के हांथ का खायें, तो अवश्य ला सकूँगी ।" माँ ने कहा, "खायेगा क्यों नहीं? ख़ूब खायेगा । पकाने के बाद ब्राह्मण रसोइये के हाथ भेज देना । लड़कों में से भी किसी किसी को अरुचि हुई है, जगदम्बा का प्रसाद होने से वे लोग भी थोड़ा थोड़ा खायेंगे ।"

**१२ अगस्त १९१८, सोमवार**

मैं – शोकहरण की बड़ी इच्छा है कि कुछ खाना बनाकर आपको खिलाया जाय । सो मैं यदि पकाकर लाऊँ, तो क्या आप खायेंगी?

माँ – क्यों नहीं खाऊँगी? तू मेरी बिटिया जो है; परन्तु ज्यादा मत करना, बस थोड़ा-बहुत करने से हो जायेगा । स्वास्थ्य ठीक नहीं है न ! और इस रास्ते लाना।

मैं – अच्छा, ऐसा ही करूँगी ।

इतना कहकर ही मैंने उस दिन विदा ली ।

अगले दिन कुछ खाना बनाकर ले जाते ही माँ ने कहा, "यह देखो जी, कितना कष्ट करके यह सब लायी हो !"

नलिनी दीदी ने कहा, "तुम माँगती हो, तभी तो ले आती है ।"

माँ बोलीं, "इससे नहीं माँगूंगी? मेरी बिटिया है । और यह क्या कम सौभाग्य की बात है! क्या कहती हो, बेटी?"

मैं – ठीक ही तो है । माँ जो कृपा करके लाने को कहती हैं, उसी से हम लोग धन्य हो जाती हैं ।

आज काफी रात हो जाने के बाद ही गयी थी । भोग के बाद प्रसाद लेकर घर लौटते समय मैंने कहा, "कल शायद आना नहीं हो सकेगा, माँ । एक घर में विवाह का निमंत्रण है ।"

माँ – अच्छा, तो कल न आने से समझूँगी कि विवाह में गयी हो ।

उस दिन का घी ठीक नहीं था । "तली हुई चीजें उतनी अच्छी नहीं हुई" – माँ के ऐसा कहने के कारण एक दिन मैं अच्छे घी से पीठा, दाल, सब्जी आदि – कई तरह की चीजें बनाकर ले गयी थी । खाकर माँ ने बड़ा आनन्द व्यक्त किया। माँ की भतीजी नलिनी दीदी में थोड़े छूत का भाव था । उन्होंने भी उस दिन वह सब खाकर कहा था, "मुझे तो किसी का पकाया अच्छा नहीं लगता, परन्तु इसके हाथ का खाने में तो घृणा नहीं होती!" माँ ने कहा, "क्यों होगी? यह मेरी विटिया जो है।" बाद में उन्होंने मुझसे कहा, "देख, उस दिन तुम जो अरवी के पत्ते की चटनी लायी थीं, वह इन लोगों ने मुझे नहीं दिया ।"

**१४ अगस्त १९१८, बुधवार**

आज जाकर देखा कि माँ डॉक्टर दुर्गापद बाबू की बहन के साथ बातें कर रही हैं । बोर्डिंग की दो महिलाएँ तथा ढाका से एक बहू भी आयी हैं । सभी माँ को घेरकर बैठी हुई हैं । प्रणाम करके मैं बैठ गयी । डॉक्टर बाबू की बहन कम आयु में ही विधवा हुई हैं । उनके पति की सम्पत्ति को लेकर झगड़ा चल रहा है। भानजे अड़ँगा लगा रहे थे, इसलिए वसियतनामे की स्वीकृति में देरी हो रही है । काफी देर तक ये ही सब बातें चलीं । अन्त में माँ ने कहा, "जब तुम्हें दान या विक्रय का अधिकार नहीं है, तो किसी अच्छे आदमी के हाथ में उसके बन्दोबस्त का भार दे देना। संसार के विषयी लोगों का क्या कभी विश्वास किया जा सकता है? सच्चे साधु-संन्यासी ही रुपये-पैसों का लोभ छोड़कर कार्य कर सकते हैं; सो बेटी, तुम इतनी चिन्ता मत करो । जो करना है, हरि करेंगे । तुम सन्मार्ग पर हो; ठाकुर क्या तुम्हें कष्ट में डालेंगे? (गाड़ी आकर खड़ी थी, बाहर से बुलावा आ रहा था) तो अब चलो, पत्र आदि देती रहना, फिर आना ।"

उनके विदा लेने के बाद ही श्रीयुत श्यामलदास वैद्य गोलाप-माँ को देखने आये। कहीं वे मिलने न आ जायँ, यही सोचकर माँ ने थोड़ी देर प्रतीक्षा की । बाद में उनके चले जाने की बात सुनकर वे लेट गयीं और मेरी ओर देखकर बोलीं, "अब तुम अपना कार्य करो ।" मैं तेल लेकर मालिश करने बैठी ।

माँ ने कहा, "अहा, गिरीश घोष की बहन मुझे बड़ा मानती करती थी । घर में

जो खाना आदि बनता, मेरे लिए पहले से ही निकाल कर ले आती। कितने ही प्रकार की चीजें बनवाकर ब्राह्मण के हाथ से ले आती और बैठकर मुझे खिलाती। ... उसके प्रेम में दिखावा न था। बड़े घर की बहू थी, रुपये-पैसे बहुत थे, परन्तु उसके सम्बन्धियों ने सब लेकर बरबाद कर डाला। अतुल ने पाँच हजार रुपये लेकर व्यवसाय खोल लिया। इसके अतिरिक्त एक वर्ष तक पति की चिकित्सा में भी उसने बहुत रुपये खर्च किये थे। अन्त में मृत्यु के पूर्व मेरे लिए वह एक सौ रुपये लिख गयी थी। जीवित रहते हाथ में देने में उसे लज्जा आ रही थी कि कैसे केवल एक सौ रुपये दूँ! देहान्त के बाद उसका भाई आकर मुझे रुपये दे गया। अहा! (दुर्गापूजा के) बोधनवाले दिन दोपहर में वह अन्तिम बार मुझसे मिलकर गयी। जब तक यहाँ रही, साथ साथ घूमती रही। उस बार पूजा के बाद ही हमारे वाराणसी जाने की बात थी, इसलिए उस दिन सामान आदि व्यवस्थित करने के लिए मैं इस कमरे से उस कमरे में आती-जाती थोड़ी व्यस्त थी। जाते समय उसने कहा, 'तो फिर चलती हूँ, माँ!' मैं अन्यमनस्क भाव से बोली, 'ठीक है, जाओ।' कहते ही वह जल्दी से सीढ़ियाँ उतर गयी। उसके जाते ही लगा, 'यह मैंने क्या कह दिया? कह दिया – जाओ?' ऐसा तो मैं किसी को नहीं कहती! अहा! वह फिर नहीं आयी।[१] ऐसी बात भला मेरे मुख से क्यों निकली!" थोड़ी देर अन्यमनस्क भाव से चुप रहने के बाद वे मुझसे बोलीं, "कल आयी नहीं बेटी, शोकहरण ने कैसे लाल लाल कमल भेजे थे! मैंने स्वयं ही उन फूलों से ठाकुर की पूजा की। ठाकुर को कैसा सजाया था! तुम आकर देखोगी, यह सोचकर संध्या के बाद भी देर तक उसे वैसे ही रखा था।"

*  *  *

आज संध्या के बाद जाकर देखा कि माँ लेटी हैं और राधू उनके पास ही एक अन्य चटाई पर लेटी हुई उनसे कहानी सुनाने का हठ कर रही है। मुझे देखते ही माँ ने कहा, "एक कहानी सुनाओ तो बेटी।" मैं बड़ी मुश्किल में पड़ी – माँ के सामने अब कौन-सी कहानी सुनाऊँ! उसी दिन मैंने मीराबाई की कथा पढ़ी थी, वही सुना दिया। मीरा के 'बिना प्रेम से नहीं मिले नन्दलाला' यह पंक्ति बताते ही माँ ने कहा, "अहा, अहा! ठीक ही तो है, प्रेम-भक्ति के बिना नहीं होता।" परन्तु राधू को यह कहानी ज्यादा पसन्द नहीं आयी। बाद में सरला ने आकर 'दूयो-रानी सुयो-रानी' वाली कहानी सुनायी, तब वह प्रसन्न हुई। सरला को माँ बड़ा मानती हैं। वे इस समय गोलाप-माँ की सेवा में लगी हैं। इस कारण थोड़ी देर

१. उसी रात उनका देहान्त हो गया। माँ उस दिन अपराह्न के समय मठ में पूजा देखने गयी थीं।

बाद ही वे चली गयीं। राधू कहने लगी, "मेरे पाँव में जलन हो रही है।" इसीलिए मैं थोड़ा-सा उसके पाँव दबाने लगी। परन्तु राधू को मेरा पाँव दबाना पसन्द नहीं आया। उसने कहा, "खूब जोर से दबाओ।" सुनकर माँ बोलीं, "ठाकुर मेरा शरीर दबाकर दिखाते हुए कहते – इस प्रकार दबाओ।" इसके बाद माँ ने मुझसे कहा, "अपना हाथ दे तो बेटी।" मेरे हाथ बढ़ाते ही माँ उसे दबाकर दिखाते हुए बोलीं, "उसे इस प्रकार दबा।" मेरे उसी प्रकार थोड़ी देर दबाने पर राधू सो गई। माँ ने कहा, "अब मेरे पाँवों पर जरा हाथ फेर दे, मच्छर काट रहे हैं।" थोड़ा चुप रहकर माँ फिर कहने लगीं, "मठ का इस वर्ष बड़ा दुर्भाग्य चल रहा है। मेरे बाबूराम, देवव्रत, शचिन – सब चले गये।"

देवव्रत महाराज के देहत्याग के कुछ दिन पूर्व श्री महाराज ने 'उद्बोधन' के मकान में भूत देखा था। उसी विषय में पूछने पर माँ ने कहा, "धीमे से – ये लोग डरेंगी। ठाकुर ने ऐसा कितना सब देखा था जी! एक बार वे राखाल के साथ वेणी पाल के उद्यान में गये थे। वहीं टहल रहे थे। भूत ने आकर कहा, 'तुम यहाँ क्यों आये हो! हम लोग जल-भुन रहे हैं। तुम्हारी हवा हमें सहन नहीं होती। चले जाओ, चले जाओ।' उनकी पवित्र हवा, उनका तेज भूतों को भला कैसे सहन होता? वे तो हँसते हुए चले आये। बिना किसी को कुछ बताए, खाना होने के बाद ही उन्होंने एक गाड़ी बुला देने को कहा। निश्चित हुआ था कि वे रात को वहीं रहेंगे। उन लोगों ने कहा, 'इतनी रात को गाड़ी कहाँ मिलेगी?' ठाकुर बोले, 'मिलेगी, जाओ न।' वे लोग गाड़ी ले आये। वे उसी रात गाड़ी में चले आये। इतनी रात को फाटक पर गाड़ी की आवाज सुनकर मैंने कान लगाकर सुना – ठाकुर राखाल के साथ बातें कर रहे थे। सुनकर ही सोचा – ओ माँ, यदि बिना खाये आ गये हों, तो क्या होगा; इतनी रात गये उन्हें क्या खाने को दूँगी? बाकी दिन तो सूजी आदि कुछ-न-कुछ कुछ कमरे में रखती थी, क्योंकि कुछ ठीक नहीं था कि कब वे खाने को माँग बैठेंगे। परन्तु उस दिन उनके लौटने की बात न जानने के कारण मैंने कुछ भी नहीं रखा था। रात के एक बजे थे, अतः मन्दिर के सभी फाटक बन्द हो चुके थे। वे तालियाँ बजाकर देवी-देवताओं के नाम लेने लगे और न जाने कैसे दरवाजे को खोल लिया। मैं कहने लगी, 'ओ यदू की माँ (दासी), अब क्या होगा?' वे सुनकर सब समझ गये और अपने कमरे से ही बोले, 'तुम लोग चिन्ता मत करो जी, हम खाकर आये हैं।' बाद में राखाल को उस भूत के बारे में बताने पर वह बोला, 'ओ बाबा, उसी समय न बताकर आपने अच्छा ही किया, नहीं तो मेरे दाँत लग जाते; सुनकर मुझे तो अब भी भय लग रहा है'।"

इतना कहकर माँ हँसने लगीं ।

मैं – माँ, भूत तो सब बड़े ही बेवकूफ थे । कहाँ तो ठाकुर से मुक्ति माँग लेते, सो तो नहीं; चले जाने को कहा ! ऐसा क्यों किया माँ ?

माँ बोलीं, "उन लोगों ने जब ठाकुर का दर्शन कर लिया तो फिर उनकी मुक्ति भी क्या बाकी रही ? नरेन ने एक बार मद्रास में एक भूत का पिण्ड देकर उसे मुक्त कर दिया था ।"

मैंने माँ को एक स्वप्न का वृत्तान्त बताया, "माँ, एक दिन मैंने स्वप्न में देखा कि मैं अपने पति के साथ कहीं जा रही हूँ । जाते जाते रास्ते में मुझे एक ऐसी नदी मिली, जिसका कहीं कूल-किनारा दिखाई नहीं दे रहा है । पेड़ के नीचे से होकर नदी के तट पर चलते समय सुनहरे रंग की एक लता मेरे हाथ में ऐसी उलझ गयी कि मैं उसे छुड़ा नहीं पा रही थी । उसे छुड़ाने का प्रयास करते करते नदी के पास जाकर मैंने देखा कि उस पार से एक काला-सा लड़का एक नौका लेकर आया। वह बोला, 'हाथ की लता सब काट डालो, तभी पार करूँगा।' मैंने उसका लगभग पूरा ही काट लिया था, परन्तु थोड़ा-सा किसी भी तरह नहीं छुड़ा पा रही थी । इसी बीच मेरे पति भी न जाने कहाँ चले गये, मैं उन्हें देख नहीं सकी । अन्त में मैंने कहा, 'थोड़ा-सा नहीं काट पा रही हूँ, लेकिन मुझे पार करना ही होगा।' इतना कहकर मैं नाव में चढ़ गयी । मेरे चढ़ते ही नौका चल दी और इसके साथ ही मेरा सपना भी टूट गया ।"

माँ – यह जो तुमने देखा, यह उनका रूप धरकर महामाया ने ही पार कर दिया। पति कहो, पुत्र कहो, देह कहो – सब माया है । माया के ये बन्धन न काट पाने पर पार नहीं हुआ जा सकता । देह में माया है देहात्मबुद्धि, अन्त में इसे भी काटना होगा । किसका देह बेटी, डेढ़ सेर राख ही तो है – फिर उसका गर्व कैसा ? चाहे जितना भी बड़ा शरीर हो, जलने पर बस वही डेढ़ सेर राख ! उससे भी प्रेम! हरिबोल, हरिबोल, जय माँ जगदम्बा, गोविन्द, गोविन्द, राधेश्याम, गुरुदेव, गंगा, गंगा, ब्रह्मवारि । जलवायु अच्छी होने के कारण दो महीने मैं आरा जिले के कैलवार नामक एक स्थान पर थी । साथ में गोलाप, बाबूराम की माँ, बलराम की पत्नी आदि सब थीं । उस अंचल में इतने हरिण थे बेटी ! सब दल बाँधकर त्रिभुज आकार बनाकर चलते थे । देखते-ही-देखते ऐसे दौड़ गये कि क्या कहूँ, मानो पंख फैलाकर उड़ रहे हों । ऐसी दौड़ मैंने देखी नहीं थी । अहा! ठाकुर कहते थे, 'हिरन की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी सुगन्धि पाकर हिरण चारों

दिशाओं में दौड़ते रहते हैं, जानते नहीं कि यह सुगन्धि कहाँ से आ रही है।' उसी प्रकार भगवान मनुष्य के इस देह में ही विराजमान हैं, मनुष्य उन्हें न जानकर भटकते हुए परेशान हो रहा है। भगवान ही सत्य हैं, बाकी सब मिथ्या है। क्या कहती हो, बेटी?

माँ के शरीर में बड़ी खुजली तथा घमौरियाँ हुई हैं। माँ कह रही हैं, "तीन साल हुए बेटी, ये जो घमौरियाँ हुई हैं, इसकी जलन से मैं बड़ा कष्ट पा रही हूँ। नहीं जानती बेटी, किसके पाप ने आश्रय लिया है, नहीं तो क्या इन सब शरीरों में भी कही रोग होता है?"

एक दिन संध्या के बाद गयी थी। देखा कि निवेदिता स्कूल की कई बालिकाएँ आयी हुई हैं। वहाँ जो दो दक्षिण भारतीय बालिकाएँ थीं, वे भी आयी हैं और माँ उनकी पढ़ाई-लिखाई के बारे में पूछ रहीं हैं। वे अंग्रेजी जानती हैं, यह सुनकर माँ ने उनसे पूछा, "अच्छा, हम लोग अब घर जायेंगे – इसका अंग्रेजी करो तो।" उनमें से एक ने दूसरी से कहा, "तुम करो।" इसके बाद उनमें से जो बड़ी थी, उसी ने किया। माँ ने फिर पूछा, "घर जाकर मैं क्या खाऊँगी? – इसे अंग्रेजी में कैसे कहेंगे?" उत्तर सुनकर माँ को बड़ा आनन्द हुआ और वे हँसने लगीं। अन्त में उन्होंने पूछा, "तुम लोग गाना जानती हो?" उनके 'जानती हूँ' कहने पर माँ ने उन्हें दक्षिण भारतीय गीत सुनाने का आदेश दिया। दोनों बालिकाएँ गाने लगीं। माँ भी सुनते सुनते खूब आनन्द व्यक्त करने लगीं।

कुछ दिनों बाद फिर माँ का दर्शन करने गयी थी। थोड़ी देर बाद दुर्गा दीदी अपने आश्रम की दो बालिकाओं को लिए माँ के पास आयीं। उनके प्रणाम करते ही माँ ने आशीर्वाद देते हुए छोटी बालिका (आठ वर्ष की रही होगी) से पूछा, "तुम गाना जानती हो?" उसने कहा, "जानती हूँ।"

माँ – गाओ तो, जरा सुनूँ।

बालिका ने एक भजन गाया, जिसकी दो-एक पंक्तियाँ याद आ रही हैं –

**जय सारदा-वल्लभ, देहि पद-पल्लव दीन जने,**
**किंकरि गौरी-तनया, तव निज, स्मरण रहे।**

बालिका गौरी माँ द्वारा शिक्षिता थी, उसने अविकल गौरी-माँ के ही स्वर में गाया। माँ विस्मित होकर बोलीं, "अरे, यह तो ठीक मानो गौरदासी ही है! अभी जीवित है, नहीं तो सोचती कि उसी की प्रेतात्मा का आवेश हुआ है!" बालिका को उन्होंने स्नेहपूर्वक चूमा और पुनः एक बार आकर गीत सुनाने को कहा।

❑ (क्रमशः) ❑

# माँ की स्मृतियाँ

*स्वामी अभयानन्द*

१९१२ ई० में मुझ पर श्री माँ की कृपा हुई । उनका आश्रय कैसे प्राप्त हुआ, यह बताने के पूर्व मुझे अपने बेलूड़ मठ आने का पूरा वृत्तान्त बताना होगा । बताना होगा कि किस प्रकार मैं ढाका से कुछ दिनों के लिए ही बेलूड़ मठ आकर सदा के लिए यहीं रह गया ।

ढाका में मैं अनुशीलन समिति नामक एक विप्लवी दल के साथ जुड़ गया था। उस समय मैं बालक था और सब कुछ ठीक-ठीक समझ नहीं पाता था । ढाका में अनुशीलन समिति का एक अड्डा था, जो छात्रावास के सरीखा था । घर-बार छोड़ आये कुछ लड़के वहाँ रहते थे । कुछ दिन उनके साथ बिताने के बाद मैंने पाया कि दल की कुछ कुछ नीतियों को मेरा मन स्वीकार नहीं कर पाता था । इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति के पास जाने की इच्छा हुई जो इस विषय में मेरा उचित मार्गदर्शन कर पाते । विभिन्न कारणों से मेरे मन में रामकृष्ण मठ तथा मिशन के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द से इस विषय में उपदेश पाने की इच्छा हुई । परन्तु प्रश्न था कि किस सूत्र से उनके पास जाऊँ ? कौन मुझे उनके पास ले जायेगा? इस विषय में मेरे एक मित्र वीरेन्द्रनाथ बोस ने मेरी सहायता की ।

बीरेन जानता था कि मैं स्वामी ब्रह्मानन्दजी के साथ मिलने को उत्सुक हूँ । एक दिन सम्भवत: (१९१० ई० के) दुर्गापूजा के समय बीरेन ने एक पत्र लिखकर सूचित किया कि वह कलकत्ता जा रहा है और यदि मैं चाहूँ तो मुझे भी साथ ले जा सकता है । उस पत्र में उसने यह भी वचन दिया था कि वह कलकत्ते से मुझे बेलूड़ मठ ले जाकर महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) के साथ मेरी भेंट भी करा देगा । पत्र पाने के साथ ही मैं ढाका में उनके घर जा पहुँचा । अगले दिन हमने एक साथ ही कलकत्ते के लिए प्रस्थान किया । सियालदह स्टेशन पर उतरने के बाद मेरा मित्र मुझे बेलूड़ मठ ले गया । स्टीमर में गंगा पार होकर सालकिया से पैदल चलते हुए हम दोनों मठ में जा पहुँचे । वहाँ सर्वप्रथम ब्रह्मानन्द महाराज के साथ ही हमारी भेंट हुई । वे एक आरामकुर्सी पर बैठे हुक्का पी रहे थे । हमने प्रणाम किया । बीरेन ने महाराज के साथ मेरा परिचय कराते हुए कहा, "बहुत दिनों से मेरा यह मित्र आपसे मिलने के इच्छुक था । इसे कुछ बातें करनी है ।" इसके साथ ही बीरेन ने यह भी पूछ लिया कि क्या मैं मठ में कुछ दिन बिता सकता हूँ? महाराज ने सम्मति दी

और बीरेन कलकत्ता लौट गया। बीरेन के साथ बात हुई थी कि कुछ दिनों बाद मैं उसके साथ ही ढाका लौट जाऊँगा और बीच का समय बेलूड़ मठ में बिता लूँगा।

मठ में मेरे रहने तथा प्रतिदिन प्रसाद पाने की व्यवस्था हो गयी। इसके साथ ही महाराज ने यह भी बता दिया कि ठाकुर के स्थान में बिना कोई कार्य किये अन्नग्रहण उचित नहीं है और यह निर्धारित हुआ कि बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) मेरे लिए जो भी कार्य निर्धारित करेंगे, प्रतिदिन उसे करने के बाद ही प्रसाद पाऊँगा। स्वामी ब्रह्मानन्द ने वह भाव मेरे भीतर संचारित कर दिया था और बाबूराम महाराज के निर्देशानुसार मैं प्रतिदिन कुछ कार्य करने लगा। स्वामी ब्रह्मानन्द ने मुझसे यह भी कहा था, "प्रतिदिन तुम मेरे साथ थोड़ा टहलना।"

वे मठ भवन से स्वामीजी के मन्दिर तक टहला करते थे। उन दिनों स्वामीजी के मन्दिर का केवल निचला अंश ही था, ऊपरी अंश नहीं बना था। टहलते समय हमारे बीच बातचीत हुआ करती थी। साधुजीवन आदि से सम्बन्धित मन में अनेक प्रश्न उठते थे। परन्तु उन दिनों सबसे बड़ा प्रश्न जो मेरे मन पर अधिकार जमाये रहता था वह था – उस विप्लवी दल की नीतियों के विषय में। वह मेरे लिए एक संकट के समान था। एक दिन मैंने सब कुछ महाराज के समक्ष स्पष्ट रूप से बताकर उनका मत जानने की इच्छा व्यक्त की। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने उस विषय में जो कुछ कहा वह मेरे मन में बड़ी गहराई तक प्रविष्ट हो गया। उनकी सस्नेह बातचीत बड़ी अच्छी लगती थी।

इधर सात दिन बीत गये और बीरेन से भेंट नहीं हुई। उसका कोई समाचार भी नहीं मिला। कुछ दिनों बाद एक पत्र मिला। उसने लिखा था कि विशेष कारणवश उसे बर्धमान जाना पड़ा था और वहाँ से कलकत्ते लौटते ही उसे ढाका लौट जाना पड़ा, इस कारण उसे मेरे साथ मुलाकात करने का अवसर नहीं मिला। मेरे साथ भेंट न कर पाने के कारण खेद व्यक्त करते हुए उसने लिखा था कि मैं यथासमय ढाका लौट जाऊँ। मैंने वह पत्र स्वामी ब्रह्मानन्दजी को दिखाया। पढ़कर वे बोले, "तो वह चला गया है! सो जाने दो। तुम्हारा एक मित्र चला गया है, परन्तु हम अनेक मित्र तो यहाँ हैं! बीच बीच में वे कहते, "बीरेन ही तुम्हारा मित्र है, हम क्या तुम्हारे मित्र नहीं हो सकते?"

तब भी मेरी लौट जाने की बड़ी इच्छा होती थी। महाराज को मैंने यह बात कही। वे बोले, "अभी क्यों चले जाना चाहते हो? और एक महीने रहो न! स्वामीजी का जन्मदिन आ रहा है, उस उत्सव तक रह जाओ।" उस समय मेरी

लौट जाने की तीव्र इच्छा थी। तो भी मैंने सोचा कि जब महाराज कह रहे हैं, तो स्वामीजी के जन्मोत्सव तक रहूँगा। इस उत्सव में बड़ा आनन्द हुआ। महाराज को यह बात सूचित करने पर वे बोले, "चले जाने पर यह आनन्द कहाँ पाते ?"

स्वामीजी का जन्मोत्सव सम्पन्न हो जाने पर मैंने पुन: अपने लौटने का प्रसंग छेड़ा। तब महाराज ने श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि तक रुक जाने को कहा। श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव एक और आनन्दमेला था। लगा कि इस आनन्द की तुलना नहीं। इस उत्सव के आनन्द में शामिल होने के बाद मैंने देखा कि अब मेरे मन से घर लौटने की आकांक्षा दूर हो चुकी है। मन के भीतर से एक दूसरे ही अभिनव राज्य का संवाद सुनने को मिल रहा था। अनुभव हुआ कि वही राज्य मानो मेरा अत्यन्त अपना है। महाराज को और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं हुई, अपने अन्तर की प्रेरणा से मैं मठ में ही रह गया। वैसे उनके आशीर्वाद से ही यह सम्भव हो सका था।

मेरे साधु-जीवन के प्रारम्भ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी के अतिरिक्त जिनका विशेष प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा, वे थे पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द)। आज भी श्रद्धापूर्वक मैं उनका स्मरण करता हूँ। ऐसे प्रेमी, दीनवत्सल और विशेषकर ऐसे कर्मठ साधु कोई अन्य मेरे देखने में नहीं आये। बाबूराम महाराज की शुभकामना तथा प्रेरणा से ही मुझे श्री माँ की कृपा प्राप्त हुई।

दिनांक ठीक याद नहीं है। एक दिन बाबूराम महाराज के निर्देशानुसार मैं मठ से कलकत्ता गया। बाबूराम महाराज ने कहा था कि वे बलराम बसु के मकान में रहेंगे और मुझे भी रात वहीं बितानी होगी। मैं शाम के समय वहाँ जा पहुँचा। जिस समय की बात कह रहा हूँ, उन दिनों कलकत्ते में हम लोगों के ठहरने के लिए अन्य कोई स्थान न था। बलराम बाबू का घर ही साधुओं का अड्डा था। वहाँ जाकर हम निश्चिन्त भाव से ठहर सकते थे और भोजन आदि की भी व्यवस्था हो जाती थी। फिर बीमारी आदि हो जाने पर भी वहाँ ठहरा जा सकता था। बलराम बाबू के परिवार के सभी सदस्य साधुओं की खूब देखभाल करते थे। उस दिन मैंने देखा कि खूब लम्बे चेहरेवाला एक लड़का उनके घर आया हुआ है। लगा कि वह बाबूराम महाराज का परिचित है, परन्तु मैं उसे बिल्कुल भी नहीं पहचानता था। बाबूराम महाराज ने मुझसे कहा, "देख, आज वह यहाँ आया है तो तुझे एक कार्य करना होगा। यह लड़का कलकत्ते से परिचित नहीं है, कल उसकी माताजी के पास दीक्षा होगी। सुबह तू उसे ले जाना। पहले उद्‌बोधन-भवन के सामनेवाले घाट पर ले जाकर गंगा-स्नान करना और उसे भी कराना। उसके बाद उद्‌बोधन में जाकर

शरत महाराज से उसके दीक्षा की बात कहना । कर सकेगा? मैंने कहा, "हाँ महाराज, क्यों नहीं कर सकूँगा?"

रात होने पर यथासमय मैं सो गया । भोर के समय उठकर बाबूराम महाराज ने पुकारना आरम्भ किया, "बीरेन उठो, उठो, जल्दी निकलना होगा ।" उस लड़के का नाम बीरेन था । इसके बाद उन्होंने मुझे बुलाकर कहा, "उठकर मुख आदि धो ले ।" मैं उठा और हाथ-मुख धोकर जाने के लिए तैयार हो गया । सीढ़ी में तब भी अँधेरा था ।

जब मैं सीढ़ियाँ उतर रहा था, तो बाबूराम ने मुझसे कहा, "सुन, थोड़ा ठहर तो। अच्छा, तेरी दीक्षा हुई है क्या? तू भी दीक्षा ले ले । महाराज से मेरी इस विषय में बात हुई है; मुझे याद है कि उन्होंने तेरे दीक्षा की बात कही थी ।" थोड़ा ठहर कर वे पुन: बोले, "मेरी बात मानेगा?" मैंने सविनय कहा, "क्यों नहीं मानूँगा? कहिए न महाराज!" वे बोले, "देख, तू माँ से दीक्षा ले ले ।" मैंने पूछा, "मैं माँ से कैसे दीक्षा लूँगा ? वे तो मुझे ठीक से पहचानती भी नहीं । मैं जाता हूँ और बस प्रणाम करके लौट आता हूँ ।" बाबूराम महाराज ने कहा, "नहीं, वे तुझे पहचानती हैं ।" मैंने पूछा, "तो फिर मैं क्या कहूँगा?" उन्होंने निर्देश दिया, "शरत महाराज के पास जाकर उनसे कहना । स्वामी सारदानन्द तो तुझे पहचानते हैं न?" मैंने कहा, "हाँ महाराज, पहचानते हैं । पूजनीय शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) जब बीमार होकर उद्बोधन में थे, उन दिनों मैंने कुछ दिन वहाँ रहकर उनकी सेवा की थी । तभी स्वामी सारदानन्दजी ने मुझे देखा है ।" बाबूराम महाराज ने कहा, "हाँ, शरत महाराज तुझे अच्छी तरह पहचानते हैं । तेरे ऊपर वे बड़े प्रसन्न हैं । तूने इतने दिनों तक शशी महाराज की सेवा की थी और उस समय तूने कितना परिश्रम किया था! तेरे विषय में उनकी बड़ी अच्छी धारणा है ।" मैंने कहा, "सो मैं नहीं जानता ।" वे बोले, "जो भी हो, इसे साथ ले जा । और अपने लिए भी नये कपड़े लेता जा । दोनों गंगा-स्नान करके उद्बोधन में जाकर शरत महाराज से मिलना और कहना, "बाबूराम महाराज ने हमें भेजा है। आपको उन्होंने हमारी दीक्षा की बात माताजी से कहने तथा तदनुसार व्यवस्था करने को कहा है ।"

स्वामी ब्रह्मानन्दजी से मैंने पथप्रदर्शन के लिए प्रार्थना की थी । वैसे मैंने उनसे आनुष्ठानिक दीक्षा के लिए निवेदन नहीं किया था । तो भी आध्यात्मिक जीवन-गठन के लिए उपदेश मैंने माँगे थे । इसके अतिरिक्त मठ में सर्वप्रथम उन्हीं के साथ मेरा परिचय हुआ था । इसलिए उन्हीं से दीक्षा पाने की एक आकांक्षा मेरे मन में रह गयी थी । परन्तु बाबूराम महाराज ने इतना जोर दिया था कि मेरे लिए और

कुछ करने का उपाय नहीं था। उन्होंने कहा था, ''मेरे ऊपर तेरा विश्वास नहीं है? तू मुझसे प्रेम नहीं करता? देख मैं तेरे भले के लिए ही कहता हूँ, तू माँ से दीक्षा ले ले।'' अब इस पर मैं क्या कहता? मैंने सोचा कि मेरे लिए जो निश्चित हुआ है, वही मुझे मानना होगा और यही उचित भी होगा। उनके आदेश की अवहेलना मेरे लिए असम्भव थी।

अतएव यथासमय उद्‌बोधन जाकर मैंने पूजनीय शरत् महाराज के सामने सारी बातें व्यक्त कीं। वे तुरन्त कह उठे, ''हाँ हाँ, अवश्य होगा।'' उन्होंने माँ के पास ले जाकर हमारा परिचय करा दिया। परिचय कराते समय उन्होंने यह भी बताया कि मैंने पूजनीय शशी महाराज की सेवा की थी। माँ ने सब सुनकर कहा, ''हाँ बेटा, तुम्हारी दीक्षा होगी। जाओ, नीचे जाकर बैठो, बाद में बुला लूँगी।''

यथासमय दीक्षा आरम्भ हुई और एक एक कर हम सबको बुलावा आने लगा। पहले मेरे संगी को और फिर मुझे भी बुलाया गया। उद्‌बोधन के जिस कमरे में अब ठाकुर की पूजा होती है, उसी में माँ थीं। माँ सर्वदा ही अपना मुख घूँघट से ढँके रहती थीं। परन्तु आज घूँघट न था। आसन बिछा हुआ। कमरे में प्रविष्ट होकर मैं उसी आसन पर बैठ गया। आसन पर बैठने के थोड़ी देर बाद माँ ने मुझसे कुछ प्रश्न किये। जहाँ तक स्मरण आता है, माँ ने मेरे इष्ट के विषय में या ऐसा ही कुछ पूछा था। मैंने कहा, ''मुझे क्या अच्छा लगता है और क्या अच्छा नहीं लगता, सो तो नहीं जानता, माँ! आपको जो अच्छा लगे, वही मुझे दीजिए। माँ ने कहा, ''ऐसा ही होगा।'' इसके बाद थोड़ी देर ध्यान करने के बाद उन्होंने मुझे मंत्र दिया। मैं अवाक रह गया। देखा, इतने दिनों तक मैं जिस भाव में था, उन्होंने ठीक उसी के अनुरूप मन्त्र दिया है। मैंने तो उन्हें अपने पसन्द-नापसन्द के विषय में कुछ बताया नहीं था। उनसे स्वयं की इच्छानुसार मंत्र देने का अनुरोध किया था। मेरा पसन्द तो कितने ही प्रकार का हो सकता था, आश्चर्य की बात यह कि मैं जिस भाव को लेकर इतने दिनों से चल रहा था, माँ ने मुझे ठीक उसी भाव के अनुसार मंत्र दिया था! माँ ने अपनी दिव्यदृष्टि से मेरे मन की बात ठीक ठीक जान ली थी। इसके फलस्वरूप मेरे मन में खूब तृप्ति तथा आनन्द का बोध हुआ। इस प्रकार मेरी दीक्षा हो गयी।

दीक्षा के बाद मै बेलूड़ मठ में ही रहने लगा। गंगा के इस पार हम लोग थे और उस पार माँ अपने लीला के संगी-संगिनियों के साथ निवास करती थीं। आज के समान उन दिनों अपनी इच्छानुसार मठ से निकलकर कहीं आना-जाना नहीं होता था। फिर मठ में कोई गाड़ी भी न थी। इसलिए इच्छा होते ही माँ का दर्शन

करना उन दिनों सम्भव न था । तो भी बाबूराम महाराज जब कभी मुझे किसी कार्य से कलकत्ता भेजते तो कह देते, "माँ के घर प्रसाद पा लेना और वहाँ जाकर माँ को प्रणाम करना ।"

माँ को प्रणाम करना भी एक समस्या ही थी । वे सर्वदा महिलाओं से घिरी रहती थीं । इसलिए यह बात पहले शरत महाराज से कहनी पड़ती; फिर वे रासबिहारी महाराज से कहते और रासबिहारी महाराज भक्तों को माँ के पास ले जाते । यही परिपाटी थी । माँ तथा उनकी महिला-भक्तों को असुविधा होगी यह सोचकर दर्शन की बात कहने में मुझे थोड़ा संकोच लगता था । अस्तु बाबूराम महाराज के निर्देशानुसार मैं शरत् महाराज के पास जाकर दर्शन की इच्छा व्यक्त करता और क्रमश: उसकी व्यवस्था हो जाती । माँ के कमरे में जाकर देखता कि उनका मुख लम्बे घूँघट से ढँका है । मठ से आया हूँ यह सुनकर माँ थोड़ा-सा वस्त्र खिसकाकर पूछतीं, "मठ से आये हो, बेटा? बाबूराम कैसा है? तारक (महापुरुष महाराज) कैसा है?" इसके बाद वे खोद-खोदकर मठ के सभी का, यहाँ तक कि नौकरों तक का भी, समाचार पूछ लेतीं । माँ को सब बताना पड़ता था। परन्तु किसी कार्य के निमित्त जाने पर ही इस प्रकार दर्शन हो पाता और ऐसा अवसर कभी-कभार ही मिल पाता था । माँ के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अथवा उनके परिमण्डल में जीवनयापन करने का सुयोग मुझे कभी नहीं मिला ।

एक बार दुर्गापूजा के समय माँ को मैंने बेलूड़ मठ में भी देखा है । उस बार पूजा के समय पूजनीय राखाल महाराज मठ में नहीं थे । महापुरुष महाराज और स्वामी तुरीयानन्द भी नहीं थे । उत्सव, आयोजन आदि सबके मूल में बाबूराम महाराज की प्रेरणा ही कार्य कर रही थी । वे ही प्रधान आयोजक थे । और पूजा का सारा व्यय-भार एक भक्त ने वहन किया । उन दिनों प्रतिमा कलकत्ते से नाव में लायी जाती थी । श्रीरामकृष्ण के पुराने मन्दिर तथा मठ-भवन के बीच की जगह में पूजा का आयोजन होता था । उस जगह को बाँस से घेरकर तिरपाल से ढँक दिया जाता था । उस बार भी वहीं पूजा हुई । जहाँ तक स्मरण आता है पूजनीय शशी महाराज के पिता ईश्वरचन्द्र चक्रवर्ती तंत्रधारक हुए थे ।

महासमारोह तथा महानन्द के साथ पूजा का अनुष्ठान हुआ । एक दिन समवेत सभी भक्तों के प्रसाद पाने की व्यवस्था हुई थी । वैसे अब की तुलना में उन दिनों भक्तों की संख्या काफी कम थी । बाबूराम महाराज ने एक दिन बेलूड़ मठ के आसपास रहनेवाले समस्त मछुआरों को भी प्रसाद खिलाने की व्यवस्था की । सबको और विशेषकर गरीब लोगों को ठाकुर का प्रसाद खिलाकर उन्हें अत्यन्त

आनन्द होता था – यह बाबूराम महाराज के अनुपम चरित्र का एक उल्लेखनीय वैशिष्ट्य था । जो भक्तगण मठ में आते उनकी देखभाल के प्रति उनका विशेष ध्यान रहता । वे कहते, "देख, ये लोग तेरे या मेरे पास नहीं, ठाकुर के पास आते हैं । तू अवश्य ही ठाकुर से प्रेम करता है, करता है न? तो फिर ठाकुर के पास जो लोग आते है, उन्हें भी उसी निगाह से देखना । अपने प्रियजन के समान देखना, श्रद्धा-भक्ति के साथ देखना । ध्यान रखना कि उनकी देखभाल में कोई त्रुटि न हो ।" लगता है वे यह सब इसलिए कहते थे ताकि उन लोगों के प्रति हमारे मन में किसी प्रकार की उपेक्षा या नाराजगी का भाव न आ जाय । उनकी वह महान, उदार, अद्‌भुत प्रेमानुभूति – मनुष्य के प्रति, सबके प्रति उनके प्रेम की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हो जाता था ।

जैसे बाबूराम महाराज की आन्तरिक प्रेरणा से माँ के पास मेरी दीक्षा हुई थी, उसी प्रकार उन्हीं के विशेष आग्रह से मुझे एक बार जयरामबाटी जाकर माँ के दर्शन तथा उनका सान्निध्य पाने का भी अवसर मिला था । मायावती में तीन-चार वर्ष बिताने के बाद जब मैं कुछ दिनों के लिए बेलूड़ मठ लौटा, तभी यह मौका मिला था । मेदिनीपुर में बाढ़ के समय वहाँ कई महीने राहत-कार्य में बिताने के बाद मुझे कर्मी के रूप में मायावती भेजा गया । बाबूराम महाराज की इच्छा नहीं थी कि मैं मायावती जाऊँ । उन्होंने मुझे इस पर असहमति व्यक्त करने को भी कहा था । परन्तु मैंने वैसा किया नहीं । स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी सारदानन्द ने स्वयं जो निर्णय लिया था, उसे मैं भला कैसे न मान लेता? मैं समझ गया था कि मेरे मायावती चले जाने से बाबूराम महाराज मन-ही-मन क्षुब्ध हुए थे । परन्तु इसके मूल में मेरे प्रति उनका अहैतुक स्नेह ही था ।

अस्तु तीन-चार वर्ष मायावती में बिताने के बाद जब मैं कुछ दिनों के लिए बेलूड़ मठ आया, तो एक दिन सुबह बाबूराम महाराज ने मुझसे कहा, "तू तो अब यहाँ से दूर चला गया है । यहाँ आकर क्या माँ का दर्शन हुआ है? क्या कभी तू माँ के घर जयरामबाटी गया है?" मैंने कहा, "नहीं महाराज, इस बार दर्शन तो नहीं हुआ । मैं कभी जयरामबाटी भी नहीं गया ।" वैसे जयरामबाटी के विषय में मेरे मन में एक तरह का भय था । जयरामबाटी मुझे मच्छरों तथा मलेरिया का घर प्रतीत होता था । स्वतःप्रवृत्त होकर ऐसे स्थान में जाने की मेरी इच्छा कभी नहीं हुई । तीर्थयात्री जिस प्रकार की श्रद्धा-भक्ति लेकर तीर्थयात्रा करते हैं, वैसा भाव लेकर जयरामबाटी जाने का विचार मेरे मन में कभी नहीं आया था । बाबूराम महाराज ने कहा, "इस बार मायावती लौटने के पहले तू जयरामबाटी क्यों नहीं घूम

आता?'' परन्तु जाने के लिए पैसे भी तो होने चाहिए । मायावती लौटने के लिए किराये भर को छोड़ मेरे पास एक पैसा भी न था । तो फिर मायावती कैसे जाऊँगा'' – उन्हें यह सूचित करने पर वे बोले, ''पैसों के लिए चिन्ता करने की जरूरत नहीं, उसकी व्यवस्था हो जायेगी ।'' इसके बाद शाम को उन्होंने मुझे बुला कर कहा, ''कल सुबह ही निकल जा । श्रीरामपुर से एक सज्जन तथा एक महिला दीक्षा लेने को जयरामबाटी जा रहे हैं । वे हावड़ा स्टेशन पर तेरी प्रतीक्षा करेंगे । तू उन्हीं के साथ जाना ।'' जाते समय सब ठीक ठीक ही हुआ । वासन्ती पूजा की सप्तमी के दिन उन सज्जन तथा महिला की दीक्षा होनेवाली थी और हम उसके पिछले दिन पहुँच गये । टिकट आदि के सारे खर्च उन्हीं लोगों ने वहन किये ।

उस बार मैं जयरामबाटी में माँ के घर तीन-चार दिन रहा । वहाँ राममय तथा वरदा नाम के दो युवकों को मैंने पहली बार देखा । इसके अतिरिक्त वहाँ एक और भी बलिष्ठ युवक था, खूब गठा हुआ शरीर तथा देखकर ही लगता था वह बेपरवाह है । वह सिलहट का ज्ञान था । उसके साथ मेरा परिचय था । देखते ही उसने मेरा स्वागत करते हुए कहा, ''आइये, आइये । उधर चलिए माँ का दर्शन करने ।'' जयरामबाटी के मकान में कहाँ क्या है, किस कमरे में कौन रहता है या क्या होता है आदि कुछ भी मुझे मालूम न था । मैं यह देखकर विस्मित हो रहा था कि ज्ञान मुझे रसोईघर की ओर ले जा रहा है । मैं प्राय: चिल्लाकर ही बोल उठा, ''यह तुम क्या कर रहे हो, मुझे रसोईघर में क्यों ले जा रहे हो? माँ कहाँ हैं? यह बात ठीक है कि मैं माँ को प्रणाम करने आया हूँ, परन्तु यदि वे रसोईघर में व्यस्त हों, तो वहाँ का कार्य समाप्त होने तक मैं प्रतीक्षा कर सकता हूँ ।'' परन्तु यह सब कहने से भी कोई लाभ नहीं हुआ, ज्ञान ठहरा नहीं । उसने मुझे रसोईघर में ले जाकर माँ के सामने हाजिर करके ही छोड़ा । मैंने वहीं पर माँ को प्रणाम किया । पूछा, ''माँ, आप यहाँ क्या कर रही हैं, रोटियाँ सेंक रही हैं?'' वे बोलीं, ''बेटा, यहाँ के लोग रोटियाँ नहीं खाते । कलकत्ते से जब मेरे बच्चे यहाँ आते हैं, तो उनके लिए रोटियाँ बनाती हूँ।'' उस समय जयरामबाटी में अनेक मेहमान आये हुए थे । माँ उन्हीं के लिए रोटियाँ बना रही थीं । उन्होंने मुझसे कहा, ''जाओ बेटा, हाथ-मुँह धो आओ । मैं थोड़ी देर बाद ही आ रही हूँ ।'' अपने संगियों की दीक्षा से सम्बन्धित पत्र मैंने माँ को दिया। निश्चित हुआ कि सप्तमी के दिन उनकी दीक्षा होगी । मैं पहले ही बता आया हूँ कि हम लोग वासन्ती पूजा के समय गये थे ।

मैंने माँ को कलकत्ते के उद्‌बोधन भवन में जैसा देखा था, जयरामबाटी में ठीक वैसा नहीं, बल्कि एक अलग रूप में देखा । माँ यहाँ घरेलू वेश में थीं, घूँघट नहीं

था । सरलता एवं पवित्रता की प्रतिमूर्ति थीं । गृहस्थी के समस्त कार्यों में वे व्यस्त थीं । एक दिन भोर के समय मैंने देखा, उनके हाथ में एक पात्र था और वे बड़े कष्टपूर्वक चल रही थीं । सम्भवत: पाँव में वात के कारण उन्हें चलने में कष्ट हो रहा था । पात्र हाथ में लिए वे किसी पड़ोसी के घर जा रही थीं । मार्ग में भेंट होने पर मैंने पूछा, "इतने भोर में आप कहाँ जा रहीं हैं, माँ?" वे बोलीं, "ग्वाले के घर दूध के लिए जा रही हूँ । मेरे कलकत्ते के लड़कों को सुबह चाय पीने की आदत है, इसीलिए दूध लाने जा रही हूँ ।" माताजी स्वयं ही दूध की व्यवस्था करने जा रही हैं, यह देखकर मैं विस्मित रह गया । उद्‌बोधन के मकान में उनके चलने-फिरने को मौका न था, इसीलिए वे वहाँ पर नववधू के समान संकुचित होकर रहने को बाध्य होती थीं । परन्तु जयरामबाटी में वे स्वाधीन थीं और सर्वदा कार्य में लगी रहती थीं, स्वयं ही सब करती थीं । जाते जाते उन्होंने ठहरकर कहा, "उस कमरे के बरामदे में सब्जी काटते समय तुमसे मायावती की बातें सुनूँगी ।" उनके शयनकक्ष के ठीक बाहर सब्जी काटना होता था । उन्होंने फिर कहा, "वहाँ तुम आना और मैं मायावती की सारी बातें सुनूँगी ।"

उनके निर्देशानुसार यथासमय मैं वहाँ उपस्थित हुआ । वे सब्जी काटती रहीं और मैं मायावती की बातें सुनाता रहा । जो तीन-चार दिन मैंने जयरामबाटी में बिताये, प्रतिदिन इसी प्रकार मायावती का प्रसंग चला था ।

उन्होंने धर्म अथवा आध्यात्मिक विषयों पर मुझे विशेष कुछ नहीं कहा, मैंने भी उनसे कुछ पूछा नहीं । तथापि बातचीत के दौरान वे बीच बीच में कहतीं, "जहाँ भी रहो, जिस भी कार्य में रहो, सदा-सर्वदा ठाकुर को पकड़े रहना ।" वे कुछ शब्दों में ही उपदेश दिया करती थीं । अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के विषय में उन्होंने मुझे कभी कुछ नहीं बताया ।

देहत्याग के पूर्व उनका अन्तिम दर्शन उद्‌बोधन में हुआ, तब वे विशेष रूप से पीड़ित थीं । श्यामादास कविराज उन दिनों नियमित रूप से उद्‌बोधन के मकान में आकर उनकी चिकित्सा करते थे । उसी समय उन्हें देखा था – शान्तिपूर्वक समस्त रोग का कष्ट सह रही थीं । काशी के सतीश महाराज – स्वामी सत्यानन्द और मैं उन्हें प्रणाम करने गये थे । बेलूड़ से मेरी मायावती लौटने की तथा वहाँ से मानसरोवर की यात्रा पर जाने की बात थी । मैंने माँ से आशीर्वाद के लिए याचना की । सब सुनकर वे बोलीं, "बेटा, सुनती हूँ कि मानस बड़ा ही दुर्गम तीर्थ है । खूब सावधानी से जाना । जो भी करो, सर्वदा ठाकुर को पकड़े रहना।" मानस के

मार्ग में मुझे स्वप्न में एक बड़ा ही अद्भुत दर्शन हुआ था। इस सन्दर्भ में यह बता रखना उचित होगा कि मुझे सामान्यतः दर्शन जैसी कोई अनुभूति नहीं होती।

मानसतीर्थ जाने के मार्ग में अल्मोड़ा जिले के एक जगह हमने कई दिन विश्राम किया। वहाँ हमने कुछ परिचित व्यापारियों का आतिथ्य ग्रहण किया। हमें एक छोटे-से मकान में ठहराया गया था। वहीं पहली या दूसरी रात को मैंने एक स्वप्न देखा। नींद खुलने पर मैंने घड़ी में देखा, तो उस समय रात के दो बज रहे थे।

स्वप्न में मैंने श्रीमाँ को देखा। माँ को मानो अपूर्व ढंग से सज्जित किया गया है, दोनों पाँव आलता से रंगे हुए हैं। वे एक सुन्दर स्वच्छ साड़ी पहने हुए हैं, गले में फूलों की माला है। माँ दीप्तीमयी दिख रही थीं। माँ को जहाँ लाकर रखा गया था, उस जगह को भी मैंने स्पष्ट रूप से देखा। वह गंगातट का वही स्थान था, जहाँ उनका मन्दिर बना हुआ है। वहाँ मैंने अनेक लोगों को एकत्र देखा। परन्तु माँ को वे लोग कन्धों पर लाये हैं या गाड़ी पर, यह मैं नहीं समझ सका। भीड़ में तीन लोगों को मैंने स्पष्ट रूप से देखा – माखन सेन, सुरेश मजूमदार तथा उसी दल के एक अन्य सज्जन जिनका नाम इस समय मुझे याद नहीं आ रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि मेरे सपनों में दुबारा कभी यह दृश्य या माँ को केन्द्र बनाकर अन्य कोई दृश्य नहीं आया।

मानस से लौटते समय हम लोगों ने तकलाकोट में विश्राम किया था। तकलाकोट एक बड़ा व्यावसायिक केन्द्र है। वहाँ पर उन दिनों सामान्यतः वस्तु-विनिमय का व्यवसाय होता था अर्थात भारतीय वस्तुओं के बदले स्थानीय वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। वहाँ पर पशम तथा उससे बने वस्त्रों का आदान-प्रदान ही व्यवसाय का प्रमुख रूप था। भारत के भूटिया निवासीगण भी वहाँ अपनी वस्तुएँ ले जाकर व्यवसाय किया करते थे। भारत सरकार की ओर से एक कमिश्नर जाकर वहाँ मुआयना कर आते थे तथा कीमत आदि निर्धारित कर देते थे। अपनी टोली के साथ वे एक विशाल तम्बू में निवास करते थे।

जाते समय उन अधिकारी से भेंट नहीं हुई, परन्तु लौटते समय वे मिले। पंजाब के निवासी थे। अभिवादन के बाद उन्होंने कहा, "महाराज, आप लोगों के लिए ही प्रतीक्षा कर रहा था।" जहाँ उनसे भेंट हुई, वहाँ से उनका तम्बू थोड़ी दूरी पर था। उन्होंने हमें अपने तम्बू में ले जाने का विशेष आग्रह दिखाया।

उनके तम्बू में जाकर हमें खूब आराम मिला। वहाँ मैंने देखा कि दो-एक समाचारपत्र भी पड़े हैं। पहले उन्होने हमें वह सब पढ़ने को दिया। चाय पिलाने

के बाद उन्होंने बताया कि रामकृष्ण संघ के लिए एक बुरा समाचार है । पंजाब से प्रकाशित एक समाचार-पत्र उन्होंने हमें पढ़ने को दिया । उस अखबार में दो बुरे समाचार थे । एक तो यह कि श्री माँ ने देहत्याग कर दिया है । थोड़े विस्तार के साथ ही यह समाचार छपा था । दूसरा समाचार एक विख्यात नेता के दिवंगत होने के विषय में था । इस प्रसंग में यह बता देना उचित होगा कि जिस दिन मैंने माँ के देहत्याग का स्वप्न देखा, उसके अगले दिन ही मैंने सतीश को उसे डायरी में लिख रखने को कह दिया था । यह घटना समाचार-पत्र में यह संवाद देखने के काफी पूर्व की बात है ।

परन्तु और कभी माँ ने मुझे स्वप्न में दर्शन नहीं दिया । उसी समय केवल एक बार ही मैंने उन्हें स्वप्न में देखा है, परन्तु वह दर्शन अत्यन्त स्पष्ट था । बड़े स्पष्ट रूप से मैंने उनका मुख, उनके नेत्र तथा उन्हें घेरे हुए समस्त लोगों को देखा था। मुझे अब भी याद आता है अपने स्वप्न में देखा हुआ अनुपम सौन्दर्यमण्डित माँ का वह मुखमण्डल ! बाद में मैंने मिलाकर देखा कि ठीक उसी दिन श्री माँ ने देहत्याग किया था ।

***□ ('शतरूपे सारदा' नामक बँगला ग्रन्थ से अनुवादित) □***

# स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

*देवेन्द्रकुमार राय*

१९०१ ई० के मार्च महीने में स्वामी विवेकानन्द का ढाका नगरी में शुभागमन हुआ था। वे ढाका के सुप्रसिद्ध जमींदार मोहिनीमोहन दास के घर में ठहरे थे। उस समय जहाँ तक सम्भव हो उनका संग करना ही मेरा ध्येय था। प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में लोग उनका दर्शन करने, उनसे वार्तालाप करने तथा उनके अमूल्य उपदेश सुनने के लिए उनके पास आया करते थे। मैंने उनके साथ किसी विशेष विषय पर तर्क-वितर्क नहीं किया। मैंने चुपचाप विभिन्न श्रेणी के सैकड़ों लोगों के साथ उनका प्रश्नोत्तर मात्र सुना है। श्रुति, स्मृति, पुराण, गीता आदि शास्त्रों में उनकी अद्भुत पैठ देखकर मैं विस्मय से पूर्णतः अभिभूत हो जाया करता था। कोई भी व्यक्ति, चाहे कोई भी प्रश्न क्यों न करे, उनसे सदुत्तर प्राप्त कर लेता और सन्तुष्ट होकर घर लौटता। प्रश्न चाहे जितना भी दुरूह क्यों न हो, उन्हें उत्तर देने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं लगता था। ऐसा लगता कि उनकी जिह्वा पर साक्षात सरस्वती देवी ही विराजमान हैं। एक वाक्य में कहूँ, तो उस समय मुझे लगता कि स्वामी विवेकानन्द मानो मूर्तिमन्त अग्नि हैं।

मैंने केवल दो दिन उनसे केवल दो प्रश्न किये थे। अपनी डायरी से मैं उन्हें यथावत उद्धृत करता हूँ।

**प्रथम प्रश्नोत्तर (२० मार्च, १९०१, अपराह्न के छह बजे)**

प्रश्न – कर्म क्या है ?

उत्तर – **दानमेकं कलौयुगे** – कलियुग में दान ही कर्म है। यथा – विद्यादान, अर्थदान, अन्नदान, प्राणदान इत्यादि। **पुण्यं परोपकारे च पापं च परपीडने** – स्वार्थ-त्याग ही सच्ची महानता की कसौटी है। सच्चे महापुरुष में द्वेषबुद्धि नहीं होती।

**द्वितीय प्रश्नोत्तर (२१ मार्च, १९०१)**

प्रश्न – स्वधर्म क्या है ?

उत्तर – यह बड़ा कठिन प्रश्न है। स्वधर्म अर्थात स्वभाव के अनुसार धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म। ज्योतिषशास्त्र में स्वभावजन्य धर्म के आधार पर ब्राह्मण, शुद्र आदि वर्णों की बात कही गयी है। फिर गीता में भी अर्जुन के प्रति क्षात्रधर्म अर्थात वर्णाश्रम-धर्म बताया गया है। मेरे मत से स्वभावजन्य धर्म ही अच्छा है।

स्वामीजी ने ढाका में केवल दो व्याख्यान दिये थे । पहला, ३० मार्च १९०१ को शाम के सात बजे जगन्नाथ कॉलेज के हॉल में दिया गया । उसका विषय था, 'What I have learnt – मैंने क्या सीखा?' सौभाग्यवश उस व्याख्यान में मैं भी उपस्थित था और जहाँ तक सम्भव हुआ मैंने उसे स्वामीजी की अपनी भाषा में ही लिखकर रख लिया था । उस व्याख्यान के समय ही मैंने उनके मुख से यह महावाक्य पहली बार सुना – 'मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रय: ।'

उन्होंने कहा, "First, a human birth is necessary. Next, you should have a thirst for God and spirituality. This is admitted by all universally. Next point is peculiar to your religion – you require a Mahapurusha – a Guru. He must be a Bhahmavit, he must know God, before he can make you to know God, for blind cannot lead the blind – अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा: ।'' इसका तात्पर्य यह है – "प्रथमत: तो मानव-जन्म आवश्यक है, उसके बाद भगवान तथा धर्म के लिए पिपासा होनी चाहिए । इतना तो सभी स्वीकार करते हैं । परन्तु अगली बात आपके धर्म का ही वैशिष्ट्य है । आपको एक महापुरुष अर्थात् गुरु की आवश्यकता है । फिर गुरु का ब्रह्मविद् होना भी आवश्यक है । आपको ब्रह्मज्ञान देने के पूर्व उन्हें स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि एक अन्धा व्यक्ति एक अन्य अन्धे को परिचालित नहीं कर सकता प्रयास करे तो दोनों ही गड्ढे में पड़ते हैं ।''

इस व्याख्यान में उन्होंने और भी कहा था, "For the last 25 years I have been a seeker of Truth, but, I have found only book-learning and pride of sect. At last it pleased God to join me with a Mahapurusha – पिछले २५ वर्ष मैं सत्य की खोज में घूमा हूँ, परन्तु सत्य के स्थान पर मुझे किताबी ज्ञान तथा साम्प्रदायिक अभिमान ही देखने को मिला । आखिरकार भगवान की कृपा से मैं एक महापुरुष के संसर्ग में आया ।''

द्वितीय व्याख्यान, ३१ मार्च को ढाका के ही पैगोज स्कूल के सुविस्तृत प्रांगण में हुआ । इसका विषय था, "The Religion we are born in – हमारा जन्मजात धर्म ।'' दुर्भाग्यवश उस दिन मैं वहाँ उपस्थित नहीं हो सका ।

स्वामी विवेकानन्द के पास मैंने और भी एक महती शिक्षा प्राप्त की, जिसे मैं कृतज्ञता के साथ यहाँ प्रस्तुत करता हूँ । आधुनिक पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त लोगों के ही समान मैं भी मूर्तिपूजा का घोर विरोधी था, और मेरी धारणा थी कि हिन्दूधर्म का

आदि-अन्त सब मूर्तिपूजा और 'Superstition' (अन्धविश्वास) मात्र है । परन्तु भगवत्कृपा से स्वामी विवेकानन्द द्वारा १८९३ ई० में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित धर्ममहासभा में प्रदत्त व्याख्यान को पढ़कर इस विषय में मुझे वास्तविक सत्य का बोध हो गया था । उस भाषण को पढ़कर मुझे स्पष्ट रूप से समझ में आ गया कि यदि हिन्दूधर्म की देवोपासना को मूर्तिपूजा माना जाय, तो फिर 'Church', 'Alter', 'Sabboth day', 'Cross' आदि सभी मूर्तिपूजा के ही अन्तर्गत आते हैं । उस व्याख्यान में स्वामीजी ने सत्य ही कहा था, "Why does a Christian go to the Church? Why is the Cross holy? Why is the face turned towards the sky, in prayer? Why are there so many images in the Catholic Church? Why are there so many images in the minds of Protestants when they pray? My brethren, we can no more think about anything without a mental image, than we can live without breathing." – "एक ईसाई गिरजाघर में क्यों जाता है सलीब पवित्र क्यों माना जाता है प्रार्थना के समय मुख को आकाश की ओर क्यों किया जाता है कैथलिक गिरजाघरों में इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों के मन में प्रार्थना के समय इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? मेरे भाइयो, मानसिक प्रतिमा के बिना कुछ सोच पाना उतना ही असम्भव है, जितना कि साँस लिए बिना जीवित रह पाना ।"

ढाका के पूर्वोक्त व्याख्यान के दौरान भी उन्होंने इस विषय का पुन: उल्लेख किया था । उन्होंने कहा था, "Englishman condemn idolatry – that is a long word and therefore must be bad. It is surely bad, the reason being – Englighmen call it so." – "अंग्रेज लोग मूर्तिपूजा का तिरस्कार करते हैं, इसलिए यह बुरा होना ही चाहिए । यह निश्चित रूप से बुरा है, क्योंकि अंग्रेज लोग ऐसा ही कहते हैं ।" परन्तु उन्होंने यह बात अंग्रेजों की आलोचना करने के लिए नहीं कही थी, क्योकि इसके बाद ही वे बोले, "However godspeed to these Enlighmen for they form a part of the economy of the Great Mother and they are fulfilling their mission." – "भगवान इन अंग्रेज लोगों को सफलता प्रदान करें, क्योंकि वे लोग भी जगदम्बा का ही कार्य सम्पन्न कर रहे हैं । यही सच्चे वेदान्ती का वैशिष्ट्य है । वे जगत की प्रत्येक घटना में जगदम्बा का ही हाथ देख पाते हैं, अत: किसी की निन्दा नहीं कर सकते ।

वास्तविक हिन्दूधर्म 'Idolatry' (मूर्तिपूजा) मात्र नहीं है, अपितु यह पूर्णत: मनोविज्ञान-सम्मत, उदार तथा सार्वभौमिक है ।

एक दिन मैंने स्वामीजी से कहा, "मैं आपके उपदेशों आदि की अपेक्षा आपके यूरोप तथा अमेरिका के भ्रमण के दौरान हुई अद्भुत घटनाओं को सुनने के लिए कहीं अधिक लालायित हूँ ।" उन्होंने अपने अमेरिका-प्रवास के दौरान हुई एक घटना का वर्णन किया, जो चिर काल तक मेरे हृदय में जाग्रत रहेगी । उनकी सौम्य-मूर्ति देखकर तथा मधुर सारगर्भित व्याख्यान आदि सुनकर एक करोड़पति की परम सुन्दरी पुत्री तथा उत्तराधिकारिणी इतनी मुग्ध हुई कि उसने स्वामीजी को निमंत्रण देकर अपने निवास पर बुलाया और अपना तन, मन, प्राण, ऐश्वर्य आदि — सब कुछ उनके चरणों में समर्पित करने की आकांक्षा तथा प्रार्थना व्यक्त की और साथ ही यह भी कहा कि वे भी उनके mission of life (जीवन-कार्य) में सहयोग करेंगी । सरसरी तौर पर ऐसा लग सकता है कि एक चिरकुमार संन्यासी ने इस प्रस्ताव की घृणापूर्वक उपेक्षा की होगी । परन्तु महापुरुषों के क्रिया-कलाप तथा आचरण असामान्य तथा विस्मयजनक होते हैं । स्वामीजी ने धीर भाव से उत्तर दिया था, "तुम्हारे इस प्रस्ताव के लिए मैं तुम्हारे प्रति अपने हृदय की आन्तरिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ; परन्तु तुम्हें जिस प्रकार अपना तन, मन, प्राण आदि अर्पण करने की स्वाधीनता है, वैसा अधिकार मुझे बिल्कुल नहीं है । मैं पहले से ही अपना देह, मन, प्राण आदि सब कुछ चिरकाल के लिए भगवान रामकृष्ण के श्रीचरणों में समर्पित कर चुका हूँ, अतः मैं तुम्हारे प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ ।"

उनके मुख से ये बातें सुनते सुनते मेरा सारा शरीर रोमांचित हो उठा और सदा-सर्वदा के लिए वे मेरे मानटपट पर अंकित हो गयीं । उस समय मेरे मन में जो भाव उमड़े थे, उनका शब्दों में वर्णन कर पाना मेरे लिए असम्भव है । मेरा मन विस्मय-विमुग्ध होकर उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति से ओतप्रोत हो गया था ।

उनका शरीर अत्यधिक परिश्रम के कारण बिल्कुल टूट चुका था । कारण पूछने पर स्वामीजी ने बताया, "अमेरिका में मुझे एक व्याख्यान देने के लिए सैकड़ों मील रेलगाड़ी की यात्रा करनी पड़ती थी और उसके बाद बिना यथेष्ट विश्राम किये ही अन्यत्र जाकर व्याख्यान देने पड़ते थे । इसी से शरीर टूट गया है।" मैंने कहा, "आपका जीवन हमारे लिए कितना मूल्यवान है ! अतः इस विषय में आप संयमित होकर क्यों नहीं चले?" उन्होंने उत्तर दिया, "उन दिनों अपने शरीर की बात मन में ही नहीं आती थी ।" यह बात अत्यन्त सत्य है । अपने शरीर का स्मरण रखते हुए कोई जगत का कल्याण-साधन कर ही नहीं सकता ।

उनकी दया तथा स्मरणशक्ति भी अद्‌भुत थी । एक दिन बातचीत के दौरान मैंने कहा, "परमहंसदेव आपके कण्ठ से जो भजन सुनकर मुग्ध हुआ करते थे, उन्हें गाकर मुझे सुनाना होगा ।" सहसा एक दिन रात के समय मेरे गेण्डरिया स्थित मकान में उनका सन्देशवाहक आ पहुँचा । उसने कहा, "अभी भजन होंगे। स्वामीजी ने आपको आने के लिए कहा है ।" मैं तो अवाक रह गया । सैकड़ों अपरिचित लोगों के सैकड़ों प्रश्नों तथा वार्तालाप के बीच भी उन्होंने मेरे समान एक साधारण व्यक्ति की बात याद रखी है ! मैं तत्काल मोहिनी बाबू के घर की ओर दौड़ पड़ा । वहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि वे सैकड़ों लोगों से घिरे बैठे हैं । दूर से मुझे देखते ही वे 'एह्येहि विद्वन्' कहकर मुझे निकट बुलाने लगे। इसके फलस्वरूप वहाँ उपस्थित लोगों की दृष्टि सहज ही मेरी ओर आकृष्ट हुई । मैं लज्जापूर्वक सिर झुकाए उनके पास जाकर बैठ गया । तदुपरान्त अपनी प्रार्थना के अनुरूप उनके मधुर कण्ठ से परमहंसदेव के कुछ भजन सुनकर मैं कृतार्थ हुआ ।

एक अन्य दिन उन्होंने कहा, "सर्विया में जाकर मैं एक हिन्दू सौदागर को देखकर विस्मित रह गया था । वहाँ पर वे लोग इत्र, गुलाब आदि का व्यवसाय करते हैं । ये सब मारवाड़ी व्यापारी भारतवर्ष से स्थलमार्ग के द्वारा यूरोप गये थे। उन लोगों ने वहाँ हिन्दू सन्यासी देखकर इतनी श्रद्धा-भक्ति तथा प्रीति दिखाई कि उसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता ।" इस घटना के द्वारा भारतवासियों की साधु-सन्यासियों के प्रति भक्ति स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है ।

स्वामी विवेकानन्द जितने भी दिन ढाका में रहे, उतने दिन यथासाध्य मैं उनका संग पाकर कृतार्थ हुआ हूँ और साधुसंग का माहात्म्य अपने प्राणों में चिरकाल के लिए अनुभव किया है। श्रीमत् शंकराचार्य ने सत्य ही कहा है — **क्षणमिह सज्जन-संगतिरेका । भवति भवार्णवतरणे नौका ।।**

## यतीन्द्र मोहन दास

ढाकावासियों के बारम्बार साग्रह अनुरोध करने पर १९०१ ई० में स्वामीजी वहाँ गये और लगभग पन्द्रह दिन निवास किया । मोहिनीमोहन दास के फरासगंज के भवन में आनन्द का मेला लग गया था । उन दिनों स्वामीजी दोनों समय कक्षा लेते और अनेक लोगों के प्रश्नों के उत्तर भी देते । उनका एक व्याख्यान जगन्नाथ कॉलेज के हॉल में और दूसरा पैंगोज स्कूल के खेल के मैदान में हुआ था । परवर्ती स्थान पर व्याख्यान देते समय मानो उनके शरीर से प्रतिक्षण महाशक्ति के

अग्नि-स्फुलिंग विकिरित हो रहे थे । आबाल-वृद्ध-वनिता सभी मत्रमुग्ध तथा उल्लास से अधीर हो पड़े थे ।

एक दिन उन्होंने हँसते हुए कहा, "अब गाना ही भला क्यों बाकी रह जाय? वादकों तथा उस्तादों को एकत्र करो, गायन भी हो जाय ।" परन्तु उसी दिन प्रातःकाल स्वामीजी को थोड़ी उल्टी हो जाने के कारण सबके अनुरोध पर उस दिन स्वामीजी का गायन नहीं हुआ । एक अन्य दिन जलसा हुआ । उस दिन स्वामीजी ने अनेक पदयुक्त गीत तथा ध्रुपद अंग के भजन गाकर सबको मोहित कर लिया । उनमें से एक पद इस प्रकार था –

**तू ही परम तीर्थ, तू ही परम अर्थ ।**
**तू ही एक अव्यर्थ योगीजन गावे ।।**
**तू ही परसमणि, तू ही अनन्त खनि**
**सुर नर ऋषि मुनि सदानन्द पावे ।।**

ढाका पहुँचते ही उनके सुनने में आया कि मेरा पुत्र बीमार है । इसके साथ-ही-साथ स्वामीजी बोले, "मैं यदि गृहस्थ होता और मेरे पुत्र के बीमार रहते यदि संन्यासी का आगमन होता, तो मैं संन्यासी से कहता – आप अभी लौट जायँ, आपके लौट जाने पर आपको फिर पा लूँगा, परन्तु यदि लड़का चला गया, तो उसे फिर कैसे पाऊँगा? इस समय तो मैं अपना पूरा मन प्राण लगाकर लड़के को ही देखूँगा । दूसरी ओर ध्यान देने का अवकाश अभी मेरे पास नहीं है ।" मेरा पुत्र तब अपने मामा के घर में था । स्वामीजी दूसरों की अवस्था का अपने प्राणों में अनुभव कर पाते थे । स्वयं को दूसरों की अवस्था में डाल पाते थे ।

ढाका के पास ही स्थित लड़के के मामा के घर जाकर उसे आशीर्वाद देने का अनुरोध किये जाने पर वे बोले, "मुझमें क्या शक्ति है? मेरे आशीर्वाद से क्या होगा?" परन्तु एक दिन वहाँ जाकर उन्होंने रोगशय्या पर पड़े बालक के सिर तथा छाती पर अपने आशीर्वादी हाथ फेर दिये । बालक क्रमशः स्वस्थ हो उठा।

उसी समय स्वामीजी की माता (भुवनेश्वरी देवी) गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) तथा कानाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) और कुछ महिलाओं के साथ लांगलबन्ध में ब्रह्मपुत्र-स्नान करने गयी थीं । उनकी टोली में सम्मिलित होने के लिए स्वामीजी भी अपने सेवकों आदि के साथ एक बजरे में सवार होकर ढाका से बूढ़ीगंगा के जलमार्ग से जाकर वहाँ उपस्थित हुए । यह भ्रमण उनके स्वास्थ्य के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हुआ था । ■

# वर्तमान का महत्व

*स्वामी सत्यरूपानन्द*

समय भूत और भविष्य में नहीं होता। समय केवल वर्तमान में ही होता है। जीवन का अस्तित्व समय से बाहर, समय से भिन्न और कहीं नहीं है। अतः जीवन भी वर्तमान में ही होता है। जीवन वर्तमान में ही जीया जा सकता है। जीवन के सुख-दुख वर्तमान में ही होते हैं। जीवन की सफलता-असफलता वर्तमान में ही होती है।

वर्तमान क्या है? आज और अभी यही तो वर्तमान है। यदि हमारा आजं अच्छा है, तो आगामी कल भी अच्छा होगा। यदि हमारा आज अच्छा नहीं है, तो हमारा आगामी कल भी बिगड़ जायगा। इतना ही नहीं, बीते हुए कल का अच्छा किया भी आज के अच्छे न होने से बिगड़ जायगा।

इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे भूत और भविष्य का बनना-बिगड़ना हमारे वर्तमान के बनने-बिगड़ने से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। उससे जुड़ा हुआ है। अतः भूतकाल की भूलों को सुधारने तथा भविष्य का निर्माण करने के लिए भी हमें वर्तमान पर ध्यान देना होगा। वर्तमान को ही सुधारना होगा। उसका समुचित उपयोग करना होगा।

यह कैसे किया जाय?

इसके लिए सबसे पहले हमें वर्तमान के महत्व को समझना होगा। मन को यह ठीक ठीक समझा देना होगा कि आज और अभी के अतिरिक्त जीवन-निर्माण का, सुख-शान्ति एवं सफलता का और कोई अवसर हमें नहीं मिलेगा, नहीं मिल सकता। हम जीवन में जो कुछ भी होना चाहते हैं, जो कुछ भी करना चाहते हैं, जो भी कुछ पाना चाहते हैं, उसका प्रारम्भ आज अभी करें। बड़ी-से-बड़ी योजना, बड़े-से-बड़े कार्य का प्रारम्भ जब भी होता है, वह वर्तमान में ही होता है। कोई भी महान कार्य असंख्य छोटे छोटे कार्यों का ही सामूहिक परिणाम होता है।

एक बार वर्तमान के महत्व को हृदयंगम कर लेने पर भीतर से ही कार्य करने की प्रेरणा आने लगती है। इस प्रेरणा का तत्काल उपयोग कर लेना

चाहिए। क्योंकि प्रेरणा भी वर्तमान में ही होती है। प्रेरणा को कार्य में परिणत करने पर ही वह सफल होती है, अन्यथा प्रेरणा भी भूतकाल का एक विचार या भाव बनकर व्यर्थ हो जाती है। उसकी स्मृति मात्र रह जाती है।

वर्तमान का सदुपयोग करने के लिए अपना लक्ष्य निर्धारित कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। लक्ष्य निर्धारित कर उसकी प्राप्ति के उपायों पर विचार कर उनके सम्बन्ध में भलीभाँति सभी आवश्यक सूचनाएँ एकत्र कर लेनी चाहिए। इतना हो जाने पर उन उपायों का क्रमानुसार वर्गीकरण कर उन्हें छोटे छोटे कार्यक्रमों में विभाजित कर लेना चाहिए। यह विभाजन व्यावहारिक होना चाहिए। वर्तमान का सदुपयोग करने के लिए इस प्रकार का योजनाबद्ध विभाजन परम आवश्यक है।

एक बार सुनिश्चित योजना बन जाने पर कर्तव्य-कर्म की वह घड़ी उपस्थित होती है, वह स्वर्ण अवसर उपस्थित हो जाता है, जिसके सदुपयोग पर जीवन की सफलता निर्भर करती है । तथा जिसका सदुपयोग न कर पाने पर जीवन केवल अपूर्ण इच्छाओं – असफल योजनाओं की एक दुखान्त गाथा मात्र बनकर रह जाता है।

यह स्वर्ण अवसर है वर्तमान में कर्म करने का। अपनी सारी शक्ति के साथ कार्य में जुट जाने का, क्योंकि आज और अभी ही कार्य करने का अवसर है। आज का, अभी का हमारा कर्म ही हमारे भविष्य की उपलब्धि का, हमारे भविष्य की समृद्धि और सफलता का प्रथम सोपान है। आज के सोपान को पार करके ही हम आनेवाले उस कल के सोपान पर चढ़ने की योग्यता अर्जित कर सकेंगे, जो कल तभी हमारे सामने आयेगा, जब वह 'आज' बन चुका होगा।

अतः आज और अभी ही सुखी-समृद्ध और सफल जीवन जीने का सुअवसर है, आज और अभी ही हम सुख-शान्ति के अधिकारी हो सकते हैं।

# स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

**( पत्रों से संकलित )**

– ७१ –

जानते हो न – Cut the coat according to your cloth (उतना पाँव पसारिए जितनी लम्बी ठौर) ! तुम लोगों के पास जितना सामान है, उसी को दान करना । इसके विपरीत तुम नहीं कर सकते, परन्तु वही दान श्रद्धापूर्वक तथा सहज भाव से होना या न होना तो तुम्हारे हाथ में है, उसी में तुम्हारा भाव व्यक्त होगा । तुम लोग तो किसी के नौकर नहीं, जो official duty (दफ्तर का कार्य) करोगे । तुम लोग धर्मकार्य कर रहे हो, इसी बात को मन में बैठाकर कार्य किये जाना । ऊपरवाले भी अवश्य ही आय के अनुरूप ही व्यय करने को बाध्य हैं । उनके पास पर्याप्त कोश न रहने पर, वे भी क्या करेंगे ? अतएव तुम लोग भी जैसा मिले, वैसा ही खर्च करना । इसमें तो कोई गल्ती नहीं है, गल्ती है तो सिर्फ भाव में । जो उपलब्ध है, उसी को अन्नपूर्णा के भण्डार का समझकर उसका उपयोग करने में ही सार्थकता है । अन्यथा जो नहीं है, सिर्फ उसी का रोना रोने से क्या लाभ ? सम्भव है तुमने पढ़ा हो – किसी General (सेनापति) के पुत्र ने उससे शिकायत की कि तलवार के छोटी होने के कारण वह शत्रु का संहार नहीं कर पा रहा है । इस पर उन्होंने कहा था – "Add a step to it" (अपना एक कदम इसके साथ जोड़ लो) । यही सच्चा उपदेश है, नहीं तो फिर 'लड़का माँगे वो, नहीं गाँव में जो'; नाचना न जाननेवाले ही आँगन को टेढ़ा बताया करते हैं; 'जो लोग खेलना जानते हैं, वे कानी कौड़ी से भी खेल लेते हैं' आदि । प्रभु भाव के भूखे हैं, उन्होंने विदुर का शाक खाया था, उनकी पत्नी के हाथ से केले के छिलके खाये थे । ये सारी कथाएँ प्रसिद्ध हैं, सभी जानते हैं । बात है भाव को लेकर, मन को सोलह आने लगाने से ही होगा । दूसरे लोग जो भी करें, देखने की आवश्यकता नहीं । स्वयं को देखना होगा कि मैं क्या कर रहा हूँ । 'आप भला तो जग भला' – यह बात अक्षरशः सत्य है ।

– ७२ –

आपका समाचार प्रायः ही मिला करता है । आपकी स्मृति तो सदा ही बनी रहती है । भक्त तुलसीदास ने सच ही तो कहा है –

**जैसे जल बिच कुमुद बसे, चन्दा बसे अकाश ।**
**जो जाके हृदि में बसे, सो है ताके पास ।।**

— जैसे कुमुद जल में निवास करती है और चन्द्रमा आकाश में (तथापि दोनों का प्रेम बना रहता है), वैसे ही जिसका हृदय जिसमें बस गया है, वह मानो उसी के पास है ।

मेरा हृदय तो आप ही लोगों के पास है, अतः इस सुदूर पर्वत में रहकर भी मैं स्वयं को आप लोगों के निकट ही महसूस कर रहा हूँ ।

प्रभु की इच्छा ही पूर्ण होती है । इस सम्बन्ध में और क्या कहना? आप सकुशल हैं तथा 'नारायण-सेवा' में अपना पूरा मन लगा रहे हैं, यह जानकर असीम प्रसन्नता हुई । जब स्वामीजी ने ठाकुर को जड़भरत का दृष्टान्त देकर अपने प्रति आसक्ति का भय दिखाया था, तो उन्होंने स्वामीजी को समझाया कि 'नारायण का चिन्तन करने से जड़ होने का भय नहीं है ।' अतः स्नेह आदि के कारण सशंकित होने का मुझे कोई कारण नहीं दिखाई देता । आप गोविन्द का भजन कर ही रहे हैं, '**डुकृञ् करणे**' तो आपका दिखावा मात्र है, क्योंकि आप विशेष रूप से '**न हि न हि रक्षति**' — यह जान गये हैं । "**न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति**" — यह भगवान की वाणी है, अतः आपकी उल्टी बुद्धि होने की सम्भावना ही कहाँ है ? बाकी सभी समाचार ठीक हैं । मेरा आन्तरिक प्रेम तथा शुभ-कामनाएँ स्वीकार कीजिए ।

**– ७२ –**

ब्रह्मज्ञान में निष्ठा रहने पर ही ब्राह्मणकुल में जन्म लेना सार्थक है, अन्यथा यदि वह हरिभक्तिहीन हो, तो "**द्विजोऽपि श्वपचाधमः** — वह ब्राह्मण होकर भी चाण्डाल से अधम है ।" भगवान के प्रति भक्ति-प्रीति रहने पर "**स्त्रियो वैश्यास्तथा शुद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्** — स्त्री, वैश्य तथा शुद्र हो तो भी इस उत्तम गति को प्राप्त करते हैं ।" (गीता ९/३२) यही भाव शास्त्रसम्मत है और यही भाव हम लोगों ने प्रभु के पास भी देखा और सुना है । यह बात मैं मानने के लिए राजी नहीं हूँ कि ब्राह्मणकुल में जन्म न लेने के कारण ब्रह्म आपके लिए बन्द पुस्तक के समान है । बल्कि मुझे तो ऐसा लगता है कि, जिनका कहना है कि ब्राह्मणेत्तर लोगों को ईश्वरोपलब्धि नहीं होती, वे शास्त्र का मर्म नहीं जानते ।

यह जानकर मैं बहुत आनन्दित हुआ हूँ कि साधुसंग छोड़कर आपको दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता । यह यदि अहंकार हो तो भी अच्छा है, क्योंकि इसी

का तो '**भवतरणे नौका** — भवसागर को पार करने के लिए नौका' कहकर गुणगान किया गया है । सारी तपस्या का फल एक पलड़े पर और एक क्षण के साधुसंग का फल दूसरे पर रखने पर तुलादण्ड साधुसंग की ओर ही झुक गया था — शास्त्रमुख से यही ज्ञात होता है ।

आपके मस्तिष्क की अन्य चीजें ग्रहण करने की क्षमता कम क्यों होगी? बल्कि आपकी उचित-अनुचित विचार करने की क्षमता बढ़ी है, तभी तो जो कुछ वुरा है, उसे ग्रहण करने की आपकी प्रवृत्ति नहीं हो रही है । आपका विनयभाव निःसन्देह प्रशंसनीय है, परन्तु बीस वर्ष पूर्व आप जैसे थे, आज भी वैसे ही है, यह बात ठीक नहीं लगती । पर हाँ, यदि आत्मा के बारे में विचार कर आपने यह बात कही हो, तो फिर आपका कहना ठीक है; क्योंकि आत्मा सदा एकरूप है ।

व्यवहार में साधु के लिए लौकिक तथा पारमार्थिक — दोनों ही कर्तव्य होने पर भी, लौकिक विषय उनकी शोभा के कारण नहीं हैं । साधु के लिए सात्त्विक भाव ही शोभाप्रद है । आपका यह अधैर्य-भाव सदा नहीं रहेगा; थोड़ा-सा और अन्तर्मुख होने पर वह चला जायेगा ! अभ्यास धीरे धीरे करना ही उत्तम है। आपको ऐसा ही करना है । ठाकुर कहा करते थे, "संसार में रहकर भगवान का चिन्तन करना किले में रहकर युद्ध करने के समान है । इसमें काफी सुविधा है । बाकी लोगों का है मैदान में युद्ध, वह सबके लिए नहीं है । असल बात यह है कि मन को चाहे जैसे भी भगवान में लगाये रखना होगा, तभी जीवन सफल होगा, वृथा नहीं जायेगा । खाना-पहनना तो '**आशरीरधारणावधि**' लगा ही रहेगा । परन्तु रामप्रसाद कहते हैं — "भोजन करते समय यह सोचो कि माँ श्यामा को आहुतियाँ दे रहा हूँ ।" उन्हीं की युक्ति अपनानी होगी । तब अनायास ही प्रभु-चरणों में मति होगी । वह भजन इस प्रकार है —

"(भावार्थ) रे मन, मेरा कहा मान, चाहे जिस उपाय से भी हो, काली का भजन कर और गुरुदेव का दिया हुआ मन्त्र रात-दिन जप कर । सोते समय समझना कि माँ को प्रणाम कर रहा हूँ और निद्रा में माँ का ही ध्यान करना। भोजन करते समय सोचना कि माँ-काली को आहुतियाँ दे रहा हूँ । माँ-काली पचास वर्णोंवाली है, अतः कानों में जो भी पड़े, सब माँ का मन्त्र ही समझना। आनन्दमग्न रामप्रसाद कहता है कि माँ सर्वघटों में विराजती है, अतः नगर में भ्रमण करते समय सोचना कि माँ-काली की ही परिक्रमा कर रहा हूँ ।"

ब्रह्मज्ञान से बढ़कर और कुछ हो सकता है क्या? सभी कार्यों में, सभी जीवों

में, सभी भावों में, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन । केवल याज्ञवल्क्य-स्मृति में ही क्यों, अन्य अनेक धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, पुराण तथा तन्त्रों में भी यही बात दिखती है । महानिर्वाण-तन्त्र गृहस्थों के लिये ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसका अवलम्बन कर राममोहन राय आदि ब्राह्मसमाज की सृष्टि कर गये हैं । भगवान ही गुरु हैं और वे ही जिन सब मतों की आवश्यकता है, उनका उपाय कर देते हैं । आप अपने हृदय की बातें उनसे कहिए, जो आवश्यक होगा, वे कर देंगे ।

आपने ठीक कहा कि कृपा को छोड़कर साधना के द्वारा कोई कुछ भी नहीं कर सकता । पर हाँ, आन्तरिकतापूर्वक साधना आदि करने पर ही उनकी कृपा होती है । भगवान ही गुरु हैं । वे अन्तर्यामी हैं । निष्कपट भाव से उनसे प्रार्थना करने पर वे सारी इच्छाएँ पूरी कर देते हैं । व्याकुलता जितनी ही बढ़ेगी, उतनी ही उनकी कृपा पास आयेगी । आपके हृदय में उनके लिए खूब व्याकुलता हो, यही मेरी उनसे आन्तरिक प्रार्थना है ।

– ७४ –

ढाका केन्द्र बुरा नहीं है । यदि अधिकारीगण तुमसे ढाका केन्द्र का भार ग्रहण करने का अनुरोध करें और वह तुम्हारे मनोनुकूल हो, तो फिर स्वीकार कर लेने में हानि ही क्या है? ... अहंकार यदि बढ़ने का हो तो ऐसे ही बढ़ जाता है । देखते नहीं कि जिसके पास अहंकार करने को कुछ भी नहीं है, वह भी अहंकार नहीं छोड़ता । फिर उनकी कृपा से किसी के अत्यन्त अहकारी होने का कारण होने पर भी, वह दीन भाव से रहते हुए देखा जाता है । उनके शरणागत होकर, मन-प्राण उनको अर्पित करके जहाँ भी रहो, वे रक्षा करेंगे; नहीं तो स्वयं ही अपनी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है ।

– ७५ –

जीव में ठीक ठीक नारायण-बुद्धि होना अत्यन्त कठिन है और ज्ञान न होने तक यह पूर्णरूपेण सम्भव भी नहीं है । तथापि बात ऐसी है कि भगवान सर्वभूतों में व्याप्त हैं, प्रत्येक जीव में वे ही विराजित हैं और जीवमात्र की सेवा **उन्हीं की** सेवा है – इस विश्वास तथा धारणा के साथ की गई सेवा का नाम नारायण-सेवा है । बिना किसी फल की कामना के, पूरे हृदय से इस भाव के साथ **सेवा कर** पाने पर, एक दिन भगवान की कृपा से यह अनुभूति होती है कि यह जीवसेवा यथार्थ नारायण-सेवा ही है; क्योंकि वे प्रत्येक जीव में विभु रूप से विद्यमान हैं और वास्तव में उनके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।

पवित्रता और अपवित्रता में सिर्फ भाव का ही पार्थक्य है, दूसरा कोई भेद नहीं। विषय के प्रति आसक्ति ही मलिनता है और ईश्वर के प्रति आसक्ति पवित्रता है। मनुष्य के भीतर सार-वस्तु ईश्वर ही है, नहीं तो मनुष्य सिर्फ हाड़-मांस थोड़े ही है। मनुष्य के भीतर का चैतन्य ही ईश्वर का अश है, वही निर्मल है और शेष सब कुछ मलिन है। हृदय का सद्भाव ईश्वर की ओर ले जाता है और असद्-भाव उनसे दूर कर देता है। यह सब धीरे धीरे समझ में आता है। पहले से सुनकर रखना चाहिए। प्रभु की कृपा से ही शुभ चरित्र की ओर आकर्षण होता है। वे सर्व मगल के आगार हैं, अतः उन्हें पाकर जीव समस्त अशान्तियों से निवृत्त होकर, पूर्ण शान्तिलाभ कर धन्य हो जाता है। उनके द्वार पर पड़े रहने से ही सब हो जाता है — वे ही सब कुछ समझा देते हैं।

हृदय में सर्वदा सद्भाव का पोषण करना। वे सत्स्वरूप हैं, अतः उन्हें हृदय में रख पाने पर कोई भी अभाव नहीं रह जाता। वे ही माँ हैं, बाप हैं, बन्धु हैं, सखा हैं, वे ही विद्या हैं, वे ही धन हैं और वे ही सर्वस्व हैं। इसी भाव के साथ उन्हें अपना लेने पर जीवन मधुमय हो जायेगा।

तुमने बहुत-से प्रश्न किये हैं, परन्तु उन सभी के उत्तर दे पाना सम्भव नहीं है; और देने पर भी तुम समझ सकोगे, ऐसा मुझे नहीं लगता। परन्तु यह निश्चित रूप से जान लेना कि जितना ही तुम उनकी ओर अग्रसर होओगे, उतना ही सभी विषय अपने-आप स्पष्ट होते चले जायेंगे, सभी प्रश्नों का समाधान हो जायेगा। अपने भीतर भाव होना चाहिए, अन्यथा कोई भी भाव समझ में नहीं आता। प्रभु को सर्वदा हृदय में देखने का प्रयास करना। जब जो कुछ जानने की इच्छा हो, आन्तरिक भाव से उन्हें पूछना। वे हृदय के भीतर से ही सभी विषय ठीक ठीक समझा देंगे। सबको वे ही तो सब कुछ समझाते हैं। उनके समझाये बिना, सैकड़ों प्रयासों के बाद भी कोई समझने या समझाने में सफल नहीं हो पाता। अभी जो अत्यन्त रहस्यमय प्रतीत हो रहा है, उनकी कृपा से वह रहस्य बहुत आसानी से खुल जायेगा और सत्य प्रकाशित हो उठेगा। क्रमशः सब होगा, उतावले मत होना। प्रभु को प्राणपण से पुकारे जाओ और एकमात्र उन्हीं को अपना बना लेने का प्रयास करो। हृदय के भीतर से इसके लिए प्रार्थना करो। वे अन्तर्यामी है — सभी के हृदय की बात जानकर तदनुरूप व्यवस्था कर देते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। मेरा स्नेह तथा शुभ-कामनाएँ स्वीकार करना।

– ७६ –

आपकी व्याकुलता देखकर मुझे अत्यन्त आनन्द हो रहा है । ठाकुर कहा करते थे कि यह व्याकुलता जितनी ही बढ़ेगी, उनकी कृपा भी उतनी ही अधिक होती जायेगी । उनके प्रति प्रेम, भक्ति तथा अनुराग होने से ही सब हुआ । भक्त और किसी भी वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं करता । दर्शन करने की इच्छा होती है, परन्तु उसे भी वह उन्हीं की इच्छा पर छोड़ देता है । अर्जुन ने कहा था – "**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम** – हे पुरुषोत्तम, मैं आपका ईश्वरीय रूप प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ।" फिर तुरन्त ही मानो वे संकुचित होकर कहने लगे –

**मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।**
**योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।। ( गीता ११/३-४ )**

– हे प्रभो, यदि आप ऐसा मानते हैं कि मैं आपका रूप देखने के योग्य हूँ, तो हे योगेश्वर, आप अपने अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये ।

बात यह है कि यदि उनकी इच्छा हो, तभी वे दर्शन देते हैं; अन्यथा मुश्किल है, क्योंकि दर्शन पाकर भी शान्ति नहीं मिलती । अत्यन्त व्याकुल होकर, कातर होकर – अब और नहीं देखना चाहता – कहते हुए अर्जुन को पुनः प्रार्थना करनी पड़ रही है कि 'हे प्रभो, मुझे अपना स्वाभाविक रूप दिखाइये' और वही देखने के बाद उनकी दशा सामान्य हुई और उनकी जान-में-जान आयी –

**दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।**
**इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।। ( ११/५१ )**

– हे जनार्दन, आपके इस प्रशान्त मनुष्य रूप को देखकर अब मैं शान्तचित्त तथा अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ ।

अतः भक्त दर्शन आदि की इच्छा न कर उनसे प्रेम, भक्ति तथा अनुराग के लिए ही प्रार्थना करता है । प्रेम, भक्ति तथा अनुराग रहने से फिर कोई अभाव नहीं रह जाता ।

**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।**
**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।। ( ११/५५ )**

– हे पाण्डव, जो मेरे लिए ही कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति से रहित है तथा सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति वैरभाव से रहित है, वही मुझको प्राप्त होता है ।

प्रभु के प्रीत्यर्थ कर्म करना, एकमात्र उन्हीं को अपने हृदय की निधि समझना, उनसे प्रेम करना, अन्य सभी आसक्तियों का त्याग करना और किसी के भी प्रति कोई असद्भाव न रखना — यही उन्हें प्राप्त करने का विशेष उपाय है। प्रेम ही सार है। एकमात्र प्रेम कर पाने से ही सब हो जाता है। हम प्रेम करना न जानते हों, ऐसी बात नहीं — हमें पत्नी-पुत्र, बन्धु-बान्धव, धन-जन आदि से प्रेम करने का अभ्यास है, वही प्रेम उन्हें देना होगा; क्योंकि उन्हें छोड़कर बाकी सब चीजें सभी हैं, तो अभी नहीं; ये चिरकाल तक रहनेवाली नहीं हैं। प्रेम का सही पात्र दूसरा कोई भी नहीं। सभी पुराने हो जाते हैं, कटु हो जाते हैं, एकरूप नहीं रहते। परन्तु उनके साथ जो प्रेम है, एकमात्र वही प्रतिक्षण वर्धमान तथा अनन्त है। "**तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवम्** — एकमात्र वही रम्य, मनोहर तथा नित-नवीन है।" (भागवत १२/१२/४९) — बाकी सभी भोगों के बाद विषाद तथा अरुचि होती है। इसीलिए तो भक्त कहा करते हैं —

**या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।**
**त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ।। ( विष्णु पुराण १/२०/२३ )**

— अविवेकी लोगों की विषयों के प्रति जो अचल प्रीति होती है, तुम्हारा स्मरण करते हुए वैसी ही अचला प्रीति मेरे हृदय से कभी दूर न हो।

उनके प्रति प्रीति होने पर फिर उनके दर्शन की अपेक्षा नहीं रह जाती। और आवश्यकता होने पर प्रभु खम्भे से भी निकलकर दर्शन देते हैं। जिससे हृदय की ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं, उस 'परावर' का दर्शन इन नेत्रों से नहीं होता; वह तो "**हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति** — संशयरहित विवेक तथा सम्यक्-दर्शन रूपी मनन के द्वारा वे हृदय में प्रकाशित होते हैं। जो उनकी अनुभूति कर लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।" (श्वेताश्वतर उप. ४/१७) "**सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य** — हे सौम्य, वे अविद्याग्रन्थि से मुक्त हो जाते हैं।" (मुण्डक. उप. २/१/१०) तथापि ऐसी बात नहीं कि उनसे प्रार्थना करने पर वे दर्शन न दें। यद्यपि उपनिषद् कहते हैं —

**न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।**
**हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। ( श्वेताश्व. ४/२० )**

— वे नेत्रों के गोचर नहीं हैं, अतः कोई भी उन्हें नेत्रों के माध्यम से नहीं देख सकता। शुद्ध बुद्धि तथा मनन के द्वारा जो उनकी हृदय में उपलब्धि कर लेता है, वह अमर हो जाता है।

यह सब हृदय की बात है । प्राण जितना ही उनमें रहेगा, उतना ही वे भी प्राण में रहेंगे । वे सच्चे दिल के मीत हैं । वे तो सदा ही हृदय में विराजित हैं, परन्तु हम उन्हें देखते ही कहाँ हैं? अपनी दृष्टि तो हमने अन्य चीजों में आबद्ध कर रखी है । नहीं तो फिर उन्हें पाने में कितनी देरी लगती? भक्त ने सच ही कहा है —

**मोको कहाँ ढूँढ़े रे बन्दे, मैं तो तेरे पास में ।**
**खोजोगे तो आन मिलूँगा, पल भर की तलाश में ।।**
**ना देवल में, ना मस्जिद में, ना काशी कैलास में ।**
**ना होऊँ मैं अवध द्वारका, मेरी भेंट विश्वास में ।।**

वे साथ ही हैं, उन्हें ढूँढ़ने कहीं जाना नहीं होगा । 'कोई ढूँढ़ ढूँढ़ कर मरता है, तो कोई अनायास ही पा जाता है' — क्षण भर की तलाश में ही वे आकर उपस्थित हो जाते हैं । परन्तु तलाश कौन करे? केवल मुख से कहने से नहीं होगा, हृदय से होना चाहिए — वे अन्तर्यामी जो हैं । हम लोग शास्त्र में पढ़ते तो हैं, पर विश्वास कहाँ होता है? "**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो** — मैं सभी के हृदय में प्रविष्ट होकर निवास करता हूँ ।" (गीता १५/१५) — यह क्या मिथ्या वाणी है ! "**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः** — इस देह में स्थित जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है ।" (गीता १५/७) यह बात मिथ्या नहीं है, तथापि हमारे लिए यह मानो मिथ्या के समान ही हो गयी है । कारण यह है कि हम इसे सिर्फ पढ़ते हैं, इसमें विश्वास नहीं करते, सिकी तलाश भी नहीं करते और इसीलिए हमारी यह दशा है । ठाकुर एक बात कहा करते थे — "गुरु कृष्ण वैष्णव तीनों की दया हुई, पर एक की दया बिन जीव की दुर्गति हुई ।" अर्थात सभी की दया होने पर भी अपने प्रति अपनी दया होनी चाहिए । "**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः** — तुम स्वयं ही अपने मित्र हो और स्वयं ही अपने शत्रु ।" (गीता ६/५) "**अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्** — जो अपने आपको जय करने में असमर्थ है, वह बाह्य शत्रु के समान ही अपना परम शत्रु है ।" (गीता ६/६) अतः अपने प्रति अपनी दया के अभाव में दूसरे की दया काम नहीं आती ।

आपकी अपने ऊपर कृपादृष्टि पड़ी है, प्रभु भी आप पर अवश्य कृपा करेंगे । खूब व्याकुल होइये । प्रभु आपकी मनोकामना पूर्ण करें, यही हमारी प्रार्थना है ।

# स्वामी विवेकानन्द और बेलूड़ मठ

*स्वामी विदेहात्मानन्द*

कालजयी महापुरुष जब इस धराधाम पर अवतरित होते हैं, तो उनके जीवन तथा कार्य के तात्कालिक और दीर्घकालिक – दो पहलू देखने में आते हैं । श्रीराम, श्रीकृष्ण, ईसा, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, गुरुनानक, आदि प्रातःस्मरणीय व्यक्तियों के समान ही स्वामी विवेकानन्द के जीवन में भी ये दो पक्ष देखने को मिलते हैं। स्वामीजी को निर्विकल्प समाधि की अनुभूति होने के बाद उस पर मानो ताला लगाते हुए गुरुदेव श्रीरामकृष्ण ने कहा था कि 'माँ का कार्य' सम्पन्न करने के लिए ही उनका अवतरण हुआ है और इसके पूर्ण होते ही ताला खुल जायगा तथा उन्हें पुनः अबाध रूप से सच्चिदानन्द की अनुभूति हो सकेगी।

स्वामीजी द्वारा सम्पन्न जगदम्बा के इस 'कार्य' के दो चरण थे। पहला तात्कालिक चरण था – वेदान्त के चिरन्तन तथा सार्वभौम सन्देश की घोषणा करके भारत की पुरातन महिमा को विश्व में एक बार फिर प्रतिष्ठित करना और इस प्रकार भारतवासियों के मन से हीनभावना को दूर करके आत्मविश्वास स्थापित करना। यह कार्य उन्होंने १८९३ ई. में अमेरिका जाकर वहाँ के शिकागो नगर में आयोजित 'सर्वधर्म-महासभा' में भाग लेकर हिन्दू धर्म-परम्परा को एक अभिनव रूप में परिभाषित किया।

उनका दूसरा दीर्घकालिक कार्य था – भावी पीढ़ियों के प्रेरणाकेन्द्र के रूप में एक स्थायी मठ की स्थापना करके, वहाँ अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के जीवन, उपदेशों तथा स्मृतिचिह्नों को सुरक्षित रखकर भावी पीढ़ियों के लिए उनके कार्य तथा अवदान को स्थायित्व प्रदान करना । आज से ठीक सौ वर्ष पूर्व १८९८ ई. में उन्होंने हावड़ा जिले के बेलूड़ ग्राम में एक विशाल भूखण्ड खरीदकर स्थायी मठ का निर्माण किया और वहाँ श्रीरामकृष्ण के अस्थि-अवशेषों की सेवा-पूजा की व्यवस्था की।

## प्रारम्भिक मठ

वस्तुतः श्रीरामकृष्ण के जीवन के अन्तिम दिनों में, उनकी शारीरिक अस्वस्थता के दौरान उनकी सेवा के निमित्त, काशीपुर के जिस उद्यान-भवन में उनके शिष्यगण एकत्र होकर निवास कर रहे थे, उसी को सर्वप्रथम 'रामकृष्ण मठ' कहा

जा सकता है। १५ अगस्त १८८६ ई. की मध्यरात्रि के समय श्रीरामकृष्ण के तिरोभाव के उपरान्त उनके दर्जन भर से अधिक त्यागी शिष्यों के सामने यह समस्या थी कि वे अपने गुरुदेव से प्राप्त विरासत को लेकर कहाँ जायँ।

भक्त सुरेन्द्रनाथ मित्र ने इस समस्या का समाधान कर दिया। उनकी हार्दिक इच्छा तथा आर्थिक सहायता से कलकत्ते के वराहनगर मुहल्ले में उन लोगों ने एक जीर्ण-शीर्ण मकान को किराये पर लेकर वहाँ निवास करना आरम्भ किया। यही द्वितीय 'रामकृष्ण मठ' था। इस मठ में निवास करते हुए गुरुभ्रातागण अपना समय भिक्षाटन, तपस्या, स्वाध्याय, तीर्थाटन आदि में बिताया करते थे। कलकत्ते के पास गंगातट पर एक ज़मीन लेकर वहाँ श्रीरामकृष्ण की भस्मास्थियों पर एक स्मारक तथा मठ बनाने की इच्छा स्वामी विवेकानन्द के मन में बनी रही।

२० मई, १८९० को वाराणसी के धनी विद्वान प्रमदादास मित्र को लिखे उनके एक पत्र से इसका कुछ आभास मिलता है, उन्होंने लिखा था, "मेरे लिए उन (श्रीरामकृष्ण) की आज्ञा थी कि उनके द्वारा स्थापित मण्डली की मैं सेवा करूँ। इस कार्य में मुझे निरन्तर लगे रहना होगा; चाहे जो हो, स्वर्ग, नरक, मुक्ति या कुछ और, मुझे सब स्वीकार है। उनका आदेश यह था कि उनकी त्यागी भक्त-मण्डली एकत्र हो और उसका भार मुझे सौंपा गया था। ... अतएव उक्त आज्ञा के अनुसार उनकी संन्यासी मण्डली वराहनगर के एक जीर्ण-शीर्ण मकान में एकत्र हुई है और सुरेशचन्द्र मित्र एवं बलराम बसु नामक उनके दो गृही शिष्यों ने इस मण्डली के भोजन, मकान के किराये आदि का भार ले लिया है। उपर्युक्त दो सज्जनों की प्रबल इच्छा थी कि गंगा-तट पर थोड़ी-सी जमीन खरीद-कर वहाँ पवित्र अस्थियों को समाधिस्थ करें और शिष्य-मण्डली वहीं एक साथ रहे। उसके लिए सुरेश बाबू ने एक हजार की रकम दे दी थी और आगे अधिक देने का वचन दिया था, परन्तु ईश्वर के किसी गूढ़ अभिप्राय से उन्होंने कल इहलोक त्याग दिया। बलराम बाबू की मृत्यु का हाल आप पहले से ही जानते हैं।

"अभी यह अनिश्चित है कि इस समय श्रीरामकृष्ण की शिष्य-मण्डली उस पवित्र भस्मावशेष एवं गद्दी को लेकर कहाँ जायँ। शिष्य लोग सब संन्यासी हैं और जहाँ कहीं उन्हें ठौर मिले, जाने को तैयार हैं। पर मैं उनका सेवक मर्मान्तक वेदना का अनुभव कर रहा हूँ कि भगवान श्रीरामकृष्ण की अस्थियों की प्रतिष्ठा के लिए थोड़ी-सी भी जमीन गंगा के किनारे न मिल सकी। एक हजार रुपये से जमीन खरीदकर कलकत्ते के निकट मन्दिर बनवाना असम्भव है। उसमें कम-से-कम पाँच-सात हजार रुपये लगेंगे।

"यदि आप उचित समझते हैं कि बंगाल में ही गंगाजी के किनारे भगवान श्रीरामकृष्ण की समाधि तथा शिष्य-मण्डली के लिए आश्रय-स्थान हो, तो मैं आपकी अनुमति से आपके पास उपस्थित हो जाऊँगा। अपने प्रभु के लिए एवं प्रभु की सन्तान के लिए द्वार द्वार भिक्षा माँगने में मुझे किंचिन्मात्र संकोच नहीं। यदि ये सच्चे, सुशिक्षित, सद्वंशजात युवा सन्यासी स्थानाभाव एवं सहाय्याभाव के कारण भगवान श्रीरामकृष्ण के आदर्श भाव को न प्राप्त कर सके, तो मेरे ख्याल से यह हमारे देश का दुर्भाग्य ही है।

"मैं श्रीरामकृष्ण का सेवक हूँ और उनके नाम को उनकी जन्म एवं साधना की भूमि में चिर-प्रतिष्ठित रखने के लिए और उनके शिष्यों को उनके आदर्श की रक्षा में सहायता पहुँचाने के लिए मुझे चोरी और डकैती भी करनी पड़े, तो उसके लिए भी मैं राजी हूँ। मैं आपको अपना आत्मीय समझकर अपने हृदय को आपके सम्मुख खोलकर रख रहा हूँ।"

## आलमबाजार मठ

वराहनगर में पाँच वर्ष से भी अधिक काल तक मठ चला और तदुपरान्त १८९१ ई. के नवम्बर में इसे आलमबाजार मुहल्ले के एक अन्य भवन में स्थानान्तरित किया गया। इसे तीसरा 'रामकृष्ण मठ' कहा जा सकता है। इसी भवन में मठ लगभग सवा छह वर्ष तक रहा। १८९७ ई. में अमेरिका से लौटने के बाद स्वामी विवेकानन्द ने यहीं निवास किया था। यहीं निवास करते हुए उन्होंने गंगा के किनारे एक स्थायी मठ के निर्माण हेतु स्थान की खोज आरम्भ की। बाद में भूकम्प में इस मठ के भवन के क्षतिग्रस्त हो जाने तथा बेलूड़ में निर्माणाधीन नये मठ की देखरेख के लिए मठ गंगा के उस पार चला गया था।

## स्थायी मठ के लिए भूमि की खोज

फिर १३ जुलाई १८९७ ई. को वे अल्मोड़ा से स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखते हैं, "मठ का नाम क्या होना चाहिए, यह तुम लोग ही निर्णय करना। रुपया सात सप्ताह के अन्दर ही पहुँच जायगा, लेकिन जमीन के बारे में मुझे कोई भी समाचार नहीं मिला है। इस सम्बन्ध में मैं समझता हूँ कि काशीपुर के कृष्णगोपाल के बगीचे को खरीद लेना ही उचित होगा। इस बारे में तुम्हारी क्या राय है? बड़े बड़े काम पीछे होते रहेंगे। यदि इसमें तुम्हारी सहमति हो, तो इस विषय की किसी से – मठ अथवा बाहर के व्यक्तियों से – चर्चा न कर गुप्त रूप से पता लगाना। योजना गुप्त न रहने से काम प्रायः ठीक ठीक नहीं हो पाता। यदि १५-१६ हजार में काम बनता हो (और तुम्हें उचित लगे), तो अविलम्ब खरीद लेना।

यदि उससे कुछ अधिक मूल्य हो, तो बयाना देकर सात सप्ताह तक प्रतीक्षा करना। मेरी राय में इस समय उसे खरीद लेना ही अच्छा है। बाकी काम धीरे धीरे होते रहेंगे। हमारी सारी स्मृतियाँ उस बगीचे से जुड़ी हुई हैं। वास्तव में वही हमारा प्रथम मठ है। यह बगीचा तो खरीदना ही होगा, चाहे आज या दो दिन बाद – और चाहे गंगा तट पर कितने ही विशाल मठ की स्थापना क्यों न करनी हो। ...काशीपुर के लिए विशेष प्रयास करना, बेलूड़ की जमीन छोड़ दो।''

१५ नवम्बर १९९७ को एक पत्र में वे लिखते हैं, ''मूत्राशय में गड़बड़ी हो जाने के कारण मुझे अपने जीवन पर भरोसा नहीं है । मैं अभी भी यह चाहता हूँ कि कलकत्ते में एक मठ स्थापित हो, किन्तु उसकी कुछ भी व्यवस्था मैं नहीं कर पाया हूँ। ... कलकत्ते में एक मठ स्थापित हो जाने पर मैं निश्चिन्त हो जाऊँगा। तभी मुझे यह भरोसा हो सकता है कि जीवन भर दुःख-कष्ट उठाकर मैंने जो कुछ कार्य किया है, मेरे शरीरान्त के बाद वह समाप्त नहीं हो जायगा।

फिर ३० नवम्बर १८९७ को उन्होंने लिखा, ''कुमारी मूलर ने जो दान देने के बारे में लिखा है, उसमें से कुछ अंश कलकत्ते पहुँच चुका है। अवशिष्टांश शीघ्र ही आनेवाला है। उसमें हम लोगों का भी कुछ है। ज्योंही रुपया जमा हो जाय, त्योंही हरि के साथ तुम स्वयं पटना जाकर उस व्यक्ति से वार्तालाप करो एवं जैसे भी बने उसे राजी करो; और यदि उस जमीन का मूल्य उचित समझो तो उसे खरीद लो। अन्यथा दूसरी जमीन के लिए प्रयत्न करो। मैं भी इधर रुपये एकत्र करने की व्यवस्था कर रहा हूँ। चाहे कुछ भी क्यों न हो, अपनी जमीन में महोत्सव करके ही दम लेना है। इस बात को न भूलना।''

**नीलाम्बर के उद्यान-भवन में**

१८९७ ई. के प्रारम्भ में अपने पाश्चात्य देशों के दौरे से लौटने के बाद से ही स्वामीजी ने एक स्थायी मठ बनाने के लिए गंगा के तट पर एक बड़े भूखण्ड की खोज आरम्भ कर दी थी। उन्हीं के निर्देश पर स्वामी निरंजनानन्द तथा ब्रह्मचारी हरिप्रसन्न (बाद में स्वामी विज्ञानानन्द) ने गंगा के उस पार जाकर बेलूड़ ग्राम में जंगली झाड़ियों तथा झुरमुटों से भरे एक ऊबड़-खाबड़ जमीन ढूँढ़ निकाली। उसके मालिक पटनावासी श्री भागवत नारायण सिंह उसे बेचने को राजी भी थे । स्वामीजी को आकर सूचित करने पर उन्होंने स्वामी योगानन्द को उसे देख आने को कहा। उनका अनुमोदन पाकर प्रायः १९ बीघे के उस भूखण्ड के लिए ४०,००० रुपयों में उसका सौदा करने और ३ फरवरी, १८९८ को लिखा-पढ़ी के बाद बयाना के रूप में १००१ रुपये चुकाकर जमीन का कब्जा

ले लिया गया । बाकी के ३८९९९ रुपये ४ मार्च को चुकाये गये थे।

१८९७ के १२ जून में आये भूकम्प के कारण आलमबाजार में स्थित किराये का मठ-भवन क्षतिग्रस्त हो चुका था और उस भूखण्ड को समतल करने तथा निर्माणकार्य की देखरेख में सुविधा की दृष्टि से बेलूड़ में ही भावी मठभूमि से लगभग एक फर्लांग दूर स्थित नीलाम्बर मुकर्जी के उद्यान-भवन को किराये पर लेकर १३ फरवरी के दिन मठ आलमबाजार से वहीं स्थानान्तरित कर दिया गया। २७ फरवरी, रविवार को श्रीरामकृष्ण के जन्म-महोत्सव के अवसर पर ही स्वामीजी ने वहाँ ठाकुर के पूत भस्मास्थि के कलश को ले जाकर वहाँ स्थापना कर दी थी। इस सन्दर्भ में उपरोक्त ऐनिहासिक घटना के दो दिन पूर्व २५ फरवरी को स्वामीजी अपने एक पत्र में लिखते हैं, "जो जमीन खरीदी गयी है, आज उसका अधिकार लिया जायगा। यद्यपि अधिकार लेते ही वहाँ पर महोत्सव करना सम्भव नहीं है, फिर भी रविवार के दिन वहाँ पर कुछ-न-कुछ करने की व्यवस्था में अवश्य ही करूँगा। कम-से-कम श्रीरामकृष्णदेव का भस्मावशेष उस दिन के लिए वहाँ ले जाकर वहीं पर उसकी पूजा की व्यवस्था अवश्य की जायगी।"

बाद में ६ मार्च को स्वामी प्रेमानन्द ने अपने एक पत्र में लिखा था, "पिछले रविवार को दाँ लोगों के उद्यान में महोत्सव लगभग अन्य वर्षों के समान ही उत्तम रूप से सम्पन्न हो गया। उस दिन नरेन्द्र (स्वामीजी) ने स्वयं ही ठाकुर को नयी जगह में ले जाकर पूजा तथा होम सम्पन्न किया था । और खीर का भोग हुआ था। कल ३९००० रु. देकर उस जगह को खरीद लिया गया है। श्वेत पत्थर का मन्दिर तथा विशाल भवन बनाने का आयोजन हो रहा है।"

## बेलूड़ मठ की स्थापना

खरीदे जाने के समय तक इस जमीन पर नावों की मरम्मत आदि का काम होता था और वह अत्यन्त उबड़-खाबड़ थी, परन्तु श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव का शुभ मुहुर्त देखकर स्वामीजी ने विलम्ब करना उचित नहीं समझा। २७ फरवरी के दिन उन्होंने विशेष पूजा आदि के साथ वहाँ श्रीरामकृष्ण के पूत भस्मावशेषों की स्थापना कर दी। उस दिन की घटनाक्रम का आँखों-देखा विवरण उनके 'शिष्य' शरच्चन्द्र चकवर्ती ने लिपिबद्ध किया है। मुख्य अंश इस प्रकार हैं –

"आज स्वामीजी नये मठ की भूमि पर यज्ञ करके श्रीरामकृष्ण के चित्र की प्रतिष्ठा करेंगे। देखने की इच्छा से शिष्य पिछली रात से ही मठ में उपस्थित है। प्रातःकाल गंगास्नान करके स्वामीजी ने पूजाघर में प्रवेश किया। फिर पूजा के

आसन पर बैठकर पुष्पपात्र में जो कुछ फूल तथा बिल्वपत्र थे, दोनों हाथों में एक साथ उठा लिए और श्रीरामकृष्णदेव की पादुकाओं पर अर्पित कर ध्यानस्थ हो गये – कैसा अपूर्व दृश्य था! उनकी धर्मप्रभा-विभासित स्निग्धोज्ज्वल कान्ति से पूजागृह मानो एक अद्‌भुत ज्योति से पूर्ण हो गया! स्वामी प्रेमानन्द तथा अन्य संन्यासी पूजागृह के द्वार पर खड़े रहे।

ध्यान तथा पूजा समाप्त होने के बाद नये मठ की भूमि में जाने का आयोजन होने लगा। ताँबे की जिस मंजूषा में श्रीरामकृष्णदेव की भस्मास्थि रक्षित थी, उसको स्वामीजी स्वयं अपने कन्धे पर रखकर आगे चलने लगे। शिष्य अन्य संन्यासियों के साथ पीछे पीछे चला। शंख-घण्टों की ध्वनि चारों ओर गूँज उठी। भागीरथी गंगा अपनी लहरों से मानो हाव-भाव के साथ नृत्य करने लगीं। मार्ग से जाते समय स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "श्रीगुरुदेव ने मुझसे कहा था कि तू मुझे कन्धे पर चढ़ाकर – वृक्ष के तले या कुटिया में – चाहे जहाँ भी ले जायगा, मैं वहीं जाऊँगा और रहूँगा। इसीलिए मैं स्वयं उनको कन्धे पर उठाकर नयी मठ-भूमि पर ले जा रहा हूँ। निश्चय जान लेना कि श्रीगुरुदेव 'बहुजनहिताय' यहाँ दीर्घ काल तक स्थिर रहेंगे।"

शिष्य – श्रीरामकृष्ण ने यह बात आपसे कब कही थी?

स्वामीजी – (मठ के साधुओं को दिखाते हुए) काशीपुर के उद्यान-भवन में। क्या इनसे कभी यह बात नहीं सुनी?

शिष्य – अच्छा हाँ। उसी समय सेवाधिकार के विषय में श्रीरामकृष्ण के गृही तथा संन्यासी भक्तों के बीच कुछ फूट-सी पड़ गयी थी।

स्वामीजी – हाँ, फूट तो नहीं कह सकते, परन्तु कुछ मनोमालिन्य-सा जरूर हो गया था। याद रखना कि श्रीरामकृष्ण के जो भक्त हैं, जिन्होंने यथार्थ रूप से उनकी कृपा पायी है, वे चाहे गृहस्थ हों या संन्यासी, उनमें न कभी फूट रही है और न हो सकती है। तो भी उस थोड़े-से मनोमालिन्य का कारण क्या था, सुनेगा? देख, प्रत्येक भक्त श्रीरामकृष्ण को अपने अपने रंग में रँगता है और इसीलिए वह उन्हें अपने ही भाव से देखता-समझता है। वे मानो सूर्य हैं और हम लोग अपनी आँखों के सामने भिन्न भिन्न रंग के काँच लगाकर उस एक ही सूर्य को भिन्न भिन्न रंगों का समझने लगते हैं। इसी प्रकार भविष्य में भिन्न भिन्न मतों का सर्जन तो ज़रूर होता है, परन्तु जो सौभाग्य से अवतारी पुरुषों का साक्षात सत्संग करते हैं, उनके जीवनकाल में प्रायः ऐसे दलों का उदय नहीं होता है।

(क्योंकि) वे लोग आत्माराम पुरुष की ज्योति से चकाचौंध हो जाते हैं; उनके अहंकार, अभिमान, क्षुद्र-बुद्धि आदि सब मिट जाते हैं, इसलिए दल बनाने का कोई अवसर उन्हें नहीं मिलता। वे अपने अपने भाव के अनुसार हृदय से उनकी पूजा करते हैं ।

शिष्य – महाराज, तो क्या श्रीरामकृष्ण के सभी भक्त उन्हें भगवान जानकर भी उसी एक भगवान के स्वरूप को भिन्न भिन्न भावों से देखते हैं और इसी कारण क्या उनके शिष्य तथा प्रशिष्य छोटी-मोटी सीमाओं में बद्ध होकर छोटे छोटे दल या सम्प्रदाय को चलाते हैं?

स्वामीजी – हाँ, इसी कारण कुछ समय में सम्प्रदाय बन ही जायेंगे। देखो न, चैतन्यदेव के वर्तमान समय के अनुयायियों में दो-तीन सौ सम्प्रदाय हैं, ईसा के भी हजारों मत निकले हैं, परन्तु बात यह है कि वे सब सम्प्रदाय चैतन्यदेव और ईसा को ही मानते हैं।

शिष्य – तो ऐसा अनुमान होता है कि श्रीरामकृष्ण के भक्तों में भी कुछ समय के पश्चात अनेक सम्प्रदाय निकल पड़ेंगे।

स्वामीजी – अवश्य निकलेंगे; परन्तु जो मठ हम यहाँ बना रहे हैं, उसमें सभी मतों तथा भावों का सामंजस्य रहेगा। श्री गुरुदेव का जो उदार मत था उसी का यह केन्द्र होगा। विश्व-समन्वय की जो किरण यहाँ से प्रकाशित होगी, उससे सारा जगत उद्भासित हो जायगा।

इसी प्रकार वार्तालाप करते हुए सभी लोग मठ भूमि पर जा पहुँचे। स्वामीजी ने कन्धे पर से मंजूषा को जमीन पर बिछे हुए आसन पर उतारा और भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। अन्य सबने भी प्रणाम किया।

इसके बाद स्वामीजी पूजा करने बैठ गये। पूजा के अन्त में उन्होंने यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित करके हवन किया और संन्यासी गुरुभाइयों की सहायता से स्वयं खीर बनाकर श्रीरामकृष्ण को भोग चढ़ाया। तदुपरान्त स्वामीजी ने सभी समागत लोगों को प्रेम से बुलाकर कहा, "आज तुम लोग तन-मन-वाणी के द्वारा श्री गुरुदेव से ऐसी प्रार्थना करो कि महा-युगावतार श्रीरामकृष्ण 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' इस पुण्यक्षेत्र में अधिष्ठित रहें और इसे सब धर्मों का अपूर्व समन्वय केन्द्र बनाये रखें।" हाथ जोड़कर सबने प्रार्थना की।

तदुपरान्त स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "श्री गुरुदेव की इस मंजूषा को लौटा ले जाने का अधिकार हम संन्यासियों को नहीं है, क्योंकि हमने ही यहाँ श्री

गुरुदेव की स्थापना की है। अतएव तू इस मंजूषा को मस्तक पर रखकर मठ (नीलाम्बर बाबू की वाटिका) में ले चल।'' शिष्य को मंजूषा का स्पर्श करने में हिचकिचाते देख स्वामीजी बोले, ''डर मत, उठा ले, यह मेरी आज्ञा है।''

तब शिष्य ने बड़े आनन्दपूर्वक स्वामीजी की आज्ञा सह मंजूषा को शिरोधार्य कर लिया। आगे आगे शिष्य, उसके पीछे स्वामीजी और उनके पीछे बाकी सभी लोग चलने लगे। रास्ते में स्वामीजी कहने लगे, ''श्री गुरुदेव तेरे सिर पर सवार होकर तुझे आशीर्वाद दे रहे हैं। आज से सावधान रहना, किसी अनित्य विषय में मन न लगाना।'' एक छोटी-सी पुलिया पार करते समय स्वामीजी ने शिष्य से फिर कहा, ''देख, यहाँ खूब सावधानी और सतर्कता के साथ चलना।''

इस प्रकार सब लोग बिना किसी विघ्न के मठ में पहुँचकर हर्ष मनाने लगे। स्वामीजी अब शिष्य से बातें करते हुए कहने लगे, ''श्री गुरुदेव की इच्छा से आज उनके धर्मक्षेत्र की प्रतिष्ठा हो गयी। बारह वर्ष की चिन्ता का बोझ आज सिर से उतर गया। इस समय मेरे मन में क्या क्या भाव उठ रहे हैं, सुनेगा? यह मठ विद्या तथा साधना का एक केन्द्र-स्थान होगा। तुम्हारे समान सब धार्मिक गृहस्थ इस भूमि के चारों ओर अपने घर-बार बनाकर बसेंगे और बीच में त्यागी संन्यासी लोग रहेंगे। मठ के दक्षिण की ओर इंग्लैंड तथा अमेरिका के भक्तों के लिए गृह बनाये जायँगे। यदि ऐसा हो जाय तो कैसा रहेगा?''

शिष्य – आपकी यह कल्पना बड़ी अद्‌भुत है।

स्वामीजी – कल्पना क्यों? समय आने पर यह सब होकर रहेगा। मैं तो इसकी नींव मात्र डाल रहा हूँ। बाद में और न जाने क्या क्या होगा! कुछ तो मैं कर जाऊँगा और कुछ विचार तुम लोगों को दे जाऊँगा। भविष्य में तुम उन सबको कार्य-रूप में परिणत करोगे। बड़े बड़े सिद्धान्तों को सुनकर रखने से क्या होगा? प्रतिदिन व्यावहारिक जीवन में उनको कार्यान्वित करना चाहिए। शास्त्रों की लम्बी लम्बी बातों को केवल पढ़ने से क्या होगा? पहले उन्हें समझना चाहिए, फिर अपने जीवन में उनको परिणत करना चाहिए। समझे? इसी को कहते हैं व्यावहारिक धर्म।

कहना न होगा कि बुद्ध, शंकराचार्य आदि की परम्परा के समान ही स्वामीजी द्वारा स्थापित बेलूड़ मठ भी पिछले सौ वर्षों के समान ही भविष्य में भी अपने 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के उद्देश्य में निरत, उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ आगामी अनेक शताब्दियों तक विश्व-चिन्तन को एक दिशा प्रदान करता रहेगा। □

# अपील

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द मेमोरियल
दलीप क्रिकेट स्कूल के सामने
स्वामी विवेकानन्द मार्ग,
पोरबन्दर-३६०५७५ (गुजरात)
फोन-०२८६-४२२३१

मित्रो,

हाल ही में गुजरात के पोरबन्दर तथा अन्य जिलों में तूफान से हुए भारी नुकसान से आप अवगत ही होंगे। १० जून १९९८ से पोरबन्दर तथा आसपास के इलाकों में हमने राहत-कार्य शुरु किया है, जिसका विवरण इसी अक में अन्यत्र प्रकाशित हुआ है।

पोरबन्दर के जिस भोजेश्वर बँगले में स्वामी विवेकानन्द ने १८९१-९२ में चार माह रहकर उसे धन्य किया था, गुजरात सरकार द्वारा विवेकानन्द स्मारक आरम्भ करने हेतु १२ जनवरी १९९७ को यह बँगला रामकृष्ण मिशन को ३० वर्षों के लिए लीज पर दे दिया है। बँगला १५० वर्षो से भी पुराना तथा जीर्ण अवस्था में था और अब इस भारी वर्षा व तूफान से और भी क्षतिग्रत हो गया है। हम उसका जीर्णोद्धार करके इसे स्वामी विवेकानन्द के एक सुन्दर स्मारक में परिणत करने को प्रयत्नशील हैं, परन्तु हाल के तूफान ने हमारे प्रयासों पर पानी फेर दिया है।

इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भवन के द्रुत जीर्णोद्धार के लिए तत्काल १० लाख रुपयों की आवश्यकता है। हमें विश्वास है कि स्वामी विवेकानन्द के अनुरागी इस पुनीत भवन के संरक्षण तथा रख-रखाव में हमारी सहायता को अग्रसर होंगे।

चेक या ड्राफ्ट कृपया 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द मेमोरियल, पोरबन्दर' के नाम से ही भेजें। रामकृष्ण मिशन के दिये गये सभी दान आयकर की धारा ८०जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। आपके सहानुभूतिपूर्ण सहयोग की हम उत्सुकता के साथ राह देख रहे हैं।

शुभकामनाओं सहित,

भवदीय,
*स्वामी निखिलेश्वरानन्द*
सचिव, रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द स्मारक भवन, पोरबन्दर

# अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
चेन्नई - ६०० ००४

## श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

प्रिय मित्रो,

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई. में इस मठ की स्थापना हुई। यह अपने बहु-आयामी सेवाओं के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। अनेक वर्षों से भक्तों तथा अनुरागियों की यह हार्दिक इच्छा थी कि मठ के परिसर में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर का निर्माण हो ।

श्रीरामकृष्ण समन्वय तथा सार्वभौमिकता की प्रतिमूर्ति थे और उनका सन्देश वर्तमान युग की आशाओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करता है, अतः उनका मन्दिर भी सार्वभौमिक भावों से युक्त होगा और इसमें उनकी पूरे आकार की संगमरमर की मूर्ति लगायी जायेगी।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बननेवाले इस मन्दिर में १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। इस मन्दिर पर लगभग साढ़े छह करोड़ अनुमानित लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के विगत अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई. को इस मन्दिर की आधारशिला रखी। मन्दिर का निर्माण सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है और नयी शताब्दी के आरम्भ में इसका उद्घाटन होने की सम्भावना है।

इस तरह के एक विशाल तथा पुनीत कार्य को सभी की शुभेच्छा तथा सहयोग के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में सहभागी होने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। इस मद में दिये जानेवाले सभी दान आयकर से मुक्त हैं। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट 'Ramakrishna Math, Chennai' के नाम से बनवाकर भेजें। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत तथा सूचित किया जायेगा। हम आपके उत्तर की प्रतीक्षा करेंगे।

प्रभु की सेवा में
**स्वामी गौतमानन्द**
अध्यक्ष

For Details Contact : Sri Ramakrishna Math, Mylapore, Chennai-4
Phone : (91) (44) 494-1231 & 494-1959, Fax : 493-4589

# रामकृष्ण मिशन के शतवार्षिक-उत्सव के उपलक्ष्य में हरिद्वार में साधु-सम्मेलन

८ अप्रैल १९९८ को रामकृष्ण मिशन के शतवार्षिक उत्सव के उपलक्ष्य में हरिद्वार में एक साधु-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। यह समारोह रामकृष्ण मिशन के हरिद्वार केन्द्र तथा अखिल भारतीय अखाड़ा परिषद ने मिलकर आयोजित किया था।

सम्मेलन का शुभारम्भ सेवाश्रम परिसर में आयोजित की गई एक विशेष प्रदर्शनी के उद्घाटन से हुआ। रामकृष्ण मठ एवं मिशन के उप-महाध्यक्ष, पूज्य स्वामी गहनानन्दजी महाराज ने श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी एवं स्वामी विवेकानन्द के सुसज्जित छायाचित्रों की आरती उतारकर प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। इस चित्रमय प्रदर्शनी के द्वारा स्वामी विवेकानन्द के जीवन-प्रसंगों को दर्शाया गया तथा अन्य प्रदर्शित छायाचित्रों के माध्यम से रामकृष्ण मठ तथा मिशन के विभिन्न सेवा-कार्यों की एक झाँकी प्रस्तुत की गयी।

उस दिन अपराह्न के ३ बजे से ही विभिन्न अखाड़ों के साधुगण सेवाश्रम में बने सुन्दर पण्डाल में आकर बैठने लगे। गैरिक वस्त्रों का मानो समुद्र ही उमड़ पड़ा था। कुल मिलाकर विभिन्न सम्प्रदायों के लगभग ८०० साधु-महात्मा वहाँ उपस्थित थे, जिनमें कुछ तो मुण्डित-मस्तक, कुछ लम्बी जटाओंवाले, तो कुछ पगड़ीधारी थे। सहज ही दृष्टिगोचर हो रहे वैचित्र्य के बावजूद आध्यात्मिक प्रेरणा ही वहाँ समस्त साधु-संन्यासियों के समवेत होने का प्रधान सूत्र था। तदुपरान्त महन्त, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर इत्यादि उपाधियों से भूपित उत्तराखण्ड की विभिन्न संस्थाओं तथा अखाड़ों के संस्थापक तथा अध्यक्षगण भी क्रमशः आश्रम परिसर में उपस्थित होने लगे। रामकृष्ण मठ-मिशन के उप-महाध्यक्ष पूज्य स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने इस साधु-सम्मेलन की अध्यक्षता की।

अपराह्न में लगभग ४ बजे रामकृष्ण संघ के साधु-ब्रह्मचारियों के वेद-गायन के साथ इस सभा का शुभारम्भ हुआ। सर्वप्रथम रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज का स्वागत-भाषण हुआ। अपने भाषण में उन्होंने यह दर्शाया कि रामकृष्ण संघ भी महान दशनामी संन्यासी परम्परा के अन्तर्गत पुरी सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। सर्वधर्म-समन्वय पर चर्चा करने के उपरान्त उन्होंने बताया कि भारत की आध्यात्मिक-परम्परा में संन्यासी ही सदैव धर्म के रक्षक रहे हैं।

प्रथम वक्ता श्री जगद्गुरु काशी-पीठाधीश्वर हर्याचार्य रामानन्दाचार्यजी थे। उन्होंने संस्कृत भाषा में अत्यन्त मार्मिक भाषण करते हुए 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति का सुन्दर वर्णन किया। इसके तत्पश्चात् दिगम्बर अनी वैष्णव अखाड़ा के श्रीमहन्त रामचन्द्रदासजी

परमहंस ने रामकृष्ण मिशन के विभिन्न सेवा-कार्यों की भूरि भूरि प्रशंसा की। उन्होंने आशा व्यक्त की कि शीघ्र ही एक ऐसा दिन आएगा, जब हिमालय पर गेरुआ लहराएगा एवं भारत पुनः एक सच्चा हिन्दू-राष्ट्र कहलाएगा।

फिर महामण्डलेश्वर स्वामी निरंजनानन्दजी बोले। उन्होंने बताया कि श्रीरामकृष्णदेव ने अन्य महापुरुषों की भाँति स्वयं किसी मठ या संस्था की स्थापना नहीं की, परन्तु उन्होंने जगत् को स्वामी विवेकानन्दजी महाराज के रूप में एक 'जाग्रत संस्था' प्रदान की। उदासी पंचायती बड़े अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी गुरुशरणानन्दजी ने प्रश्न उठाया कि स्वामी विवेकानन्द ने इस जगत को कौन-सी नई वस्तु प्रदान की ? और फिर स्वयं ही उत्तर देते हुए उन्होंने बताया कि स्वामीजी ने हमें सिखाया कि ईश्वर केवल मन्दिर के भीतर नहीं, अपितु दीन-दुखियों तथा अज्ञानियों के रूप में बाहर भी विद्यमान हैं।

अटल पीठ के आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी प्रकाशानन्दजी अगले वक्ता थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को शाक्त-शिरोमणि कहकर संघबद्धता की शक्ति को रेखांकित किया। उन्होंने आह्वान किया कि साधु-समाज को स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा एवं नेतृत्व में एकजुट होकर संघबद्ध हो जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि स्वामीजी के प्रति श्रद्धांजलि देने का यही सर्वोत्तम तरीका है।

आवाहन पीठ के आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी शिवेन्द्रपुरीजी ने अपनी संक्षिप्त, परन्तु आकर्षक वक्तृता में कहा कि विवेकानन्द एक सौ वर्ष पुराने हो सकते हैं, परन्तु 'शक्ति' कभी जीर्ण नहीं होती और स्वामीजी वस्तुतः साधारण मानव नहीं, अपितु शक्ति की प्रतिमूर्ति थे। महामण्डलेश्वर स्वामी प्रेमानन्दजी ने दर्शाया कि हर पीढ़ी में भारतभूमि सदा ही प्रबुद्ध सन्तों की जननी रही है। महामण्डलेश्वर स्वामी मंगलानन्दगिरिजी ने अपने भाषण में कहा कि स्वामी विवेकानन्द केअनुसार धर्म का उद्देश्य सार्वभौमिक भ्रातृभाव का प्रदर्शन है। हमें लगता है कि आज के दुर्दिन में एक अन्य विवेकानन्द का अवतरण हो, पर इसकी आवश्यकता नहीं होगी, वे तो पहले से ही हमारे हृदय-सिंहासन पर आसीन हैं।

निरंजनी पीठ के आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी पुण्यानन्दजी ने कहा कि कोई भी नेता कुम्भ-मेला के सदृश जन-समुदाय को आकर्षित नहीं कर सकता, केवल धर्म ही ऐसा करने में सक्षम है। वैसे ही कोई भी वैज्ञानिक-आविष्कार हमें शाश्वत शान्ति प्रदान नहीं कर सकता, जबकि धर्म ऐसा कर सकता है। निर्वाणी पीठ के आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विश्वदेवानन्दजी ने कहा कि यह साधु-सम्मेलन आत्मनिरीक्षण का एक महान अवसर प्रदान करता है। हम स्वयं से ही प्रश्न कर सकते हैं कि मैं कौन हूँ ? हमारा जीवन किस ओर अग्रसर हो रहा है ? आनन्दपीठ के आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी देवानन्दजी ने भी अपने व्याख्यान के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित किए।

अपने अध्यक्षीय भाषण में पूज्य स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने भारत के प्राचीन गौरवमय इतिहास तथा दसवीं शताब्दी के पश्चात् उसके अधःपतन की ओर इंगित किया। उन्होंने बताया कि स्वामी विवेकानन्द ने ही भारत को उसके तमस एवं पतितावस्था से ऊपर उठाया और अपने प्राचीन सन्देश की घोषणा एक ऐसी भाषा में की, जिसे आधुनिक मानव समझ सके। भागवत से उद्धरण देते हुए वे बोले कि यदि हम मानव-मात्र में ईश्वर की उपेक्षा करेंगे, तो ईश्वर हमारी पूजा स्वीकार नहीं करेंगे। अद्वैत के सिद्धान्तों को अपने सामने रखकर हमें सबमें उस परमेश्वर की उपासना करनी होगी। यदि गम्भीरतापूर्वक स्वामीजी के साहित्य के अध्ययन को बढ़ावा दिया जाय, तो आज के समाज में फैले तथाकथित भ्रष्टाचार को नियंत्रित किया जा सकता है। उनके 'सर्वधर्म-समन्वय' तथा 'सबमें एकत्व' के सन्देश को हमें जीवन में उतारना चाहिए। उनके अंग्रेजी भाषण का स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने हिन्दी अनुवाद किया । उन्होंने ही समागत साधु-समाज का हार्दिक अभिनन्दन एवं धन्यवाद ज्ञापित करते हुए सभा के विसर्जन की घोषणा की।

सभा शाम के लगभग ७ बजे समाप्त हुई और तदुपरान्त समवेत सन्तवृन्द की सेवाश्रम -परिवार द्वारा समुचित भोजन के साथ-ही-साथ वस्त्र तथा दक्षिणा सहित सेवा की गई। समारोह अत्यन्त सफल रहा और इस शताब्दी के अन्तिम कुम्भ-मेले में पधारनेवाले विभिन्न सम्प्रदाय के साधु-संन्यासियों पर एक अमिट छाप छोड़ गया।

## देहरादून में श्रीरामकृष्ण का सार्वभौमिक मन्दिर

११ मई, १९९८ की सुबह ७ बजे, वेद-पाठ, प्रार्थना एवं भावपूर्ण भजनों के बीच रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उप-महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने किशनपुर में श्रीरामकृष्ण के नवनिर्मित सार्वभौमिक मन्दिर का उद्घाटन किया। संघ के १६३ साधु-ब्रह्मचारियों तथा सैकड़ों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यपाद स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण की पूर्णाकार संगमरमर की मूर्ति का अनावरण किया।

मंगल आरती के पश्चात रामकृष्ण संघ के साधु-ब्रह्मचारीगण एक शोभायात्रा में भजन गाते हुए श्रीरामकृष्णदेव, माँ श्रीसारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द के छायाचित्रों को पुराने मन्दिर से नए मन्दिर में ले गये, जहाँ पूज्य स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने श्रीरामकृष्ण की अभिनव मूर्ति का अनावरण किया। इस प्रकार रामकृष्ण आश्रम, किशनपुर के भूतपूर्व ब्रह्मलीन अध्यक्ष स्वामी क्षमानन्दजी का सपना साकार हुआ।

इसके पूर्व ९ मई १९९८ को दोपहर में शिवाजी धर्मशाला से एक आकर्षक जुलूस निकाला गया था, जो शहर के मध्य में स्थित परेड ग्राउण्ड पर आकर समाप्त हुआ। श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामीजी के बृहदाकार छायाचित्र भी इस शोभायात्रा के साथ चल रहे थे। अनेक गणमान्य व्यक्तियों ने इसमें भाग लिया। परेड ग्राउण्ड में पूज्य स्वामी

रंगनाथानन्द जी महाराज ने वहाँ एकत्र विशाल जन-समुदाय को सम्बोधित किया।

रविवार, १० मई १९९८ को रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज ने 'राम से रामकृष्ण तक' विषय पर एक अत्यन्त भावपूर्ण प्रवचन दिया। तदुपरान्त पूज्यपाद स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने नए मन्दिर परिसर में एक स्थायी सग्रहालय का उद्घाटन किया, जिसमें बड़े ही कलात्मक एव सुन्दर ढंग से रामकृष्ण सघ की विभिन्न गतिविधियों का प्रदर्शन किया गया था। दोपहर के सत्र में बेलूड़ मठ के स्वामी सुहितानन्द जी महाराज ने माँ सारदा के मातृभाव पर अपने विचार व्यक्त किये।

११ मई १९९८, को स्वामी भजनानन्द जी महाराज ने अंग्रेजी में 'श्रीरामकृष्ण के दिव्य जीवन तथा सन्देश' विषय पर अपने संक्षिप्त भाषण में उनके जीवन की एक मनोहर झाँकी प्रस्तुत की और उनके विभिन्न पहलुओं पर गहन विचार व्यक्त किये। स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने भी उसी विषय पर एक सारगर्भित व्याख्यान दिया। मुख्य अतिथि के रूप में इलाहाबाद हाईकोर्ट के न्यायमूर्ति श्री पलक बसु ने श्रीरामकृष्ण के जीवन पर एक सुन्दर भाषण दिया।

पूज्यपाद स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज ने कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए कहा कि आज के युग में वेदान्त को शास्त्रों के पन्नों में ही आबद्ध कर न रहने देकर, उसे व्यावहारिक बनाना होगा। उन्होंने कहा कि पूजा को मात्र मन्दिरों एवं चन्द अनुष्ठानों तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए, बल्कि मानव जो स्वयं दिव्यस्वरूप है, उसकी पूजा करनी चाहिए। उन्होंने इस उपलक्ष्य में एक स्मारिका का विमोचन भी किया।

१२ मई को 'श्रीरामकृष्ण के सौ वर्ष' विपय पर एक परिचर्चा का आयोजन किया गया। स्वामी प्रभानन्द, स्वामी आत्मप्रियानन्द तथा स्वामी शशाकानन्द ने इस विषय पर अपने विचार रखे। स्वामी शशांकानन्द ने पिछले सौ वर्षों के दौरान मिशन की उपलब्धियों पर चर्चा की। स्वामी प्रभानन्द ने अपने अध्यक्षीय भाषण में बताया कि शिक्षा के क्षेत्र में मिशन ने अभूतपूर्व योगदान किया है, परन्तु अब भी बहुत कुछ करना बाकी है। उन्होंने यह भी कहा कि व्यक्तिगत एवं समाज के कल्याण हेतु सेवा के आदर्श को अपनाने की महती आवश्यकता है। आज समाज में जो विषाद एव कुण्ठा का वातावरण छाया है, उसके निवारण के लिए रामकृष्ण-भावधारा के आदर्शों को अपनाकर ही इस अन्धकारमय स्थिति से उबरा जा सकता है।

स्वामी आत्मप्रियानन्द ने 'मिशन के आदर्शों' पर अपने विचार प्रस्तुत किए। स्वामी गोकुलानन्द ने अपने स्वागत भाषण में आश्रम के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वामी क्षमानन्दजी को भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की, जिन्होंने इस मन्दिर-निर्माण में आरम्भिक दिनों में अथक परिश्रम किया था। किशनपुर आश्रम के वर्तमान अध्यक्ष स्वामी आत्मविदानन्द ने अपने

धन्यवाद भाषण में पुनः स्वामी क्षमानन्दजी के बहुमूल्य योगदान का उल्लेख किया। कार्यक्रम में अनेक कलाकारों ने अपनी कलाओं का प्रदर्शन किया। १७ मई को दरिद्रनारायण-सेवा अर्थात् गरीबों को भोजन कराकर कार्यक्रम का समापन किया गया।

## गुजरात में तूफान-राहत-कार्य

हाल ही में गुजरात में आये तूफान के उपरान्त श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट द्वारा किये गये राहत कार्य का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

(१) १० जून को : जामनगर में पीड़ितों के बीच भोजन के १७००पैकेट बाँटे गए।

(२) १० एवं ११ जून को : झोपड़ियों में रहनेवाले तूफानग्रस्तों में भोजन के ११०० पैकेटों का वितरण किया गया।

(३) १३ एवं १४ जून को : कण्डला ग्राम के करीब ५०० परिवारों के बीच लगभग २५०० किलो आटा, २५०० किलो चावल, १००० किलो दाल और १००० नए तथा पुराने वस्त्र वितरित किए गए।

(४) (अ) १५ एवं १६ जून को : १००० परिवारों में पैकेट बाँटे गए, जिसमें से प्रत्येक में निम्नलिखित वस्तुएँ विद्यमान थीं - ३ साड़ियाँ, ४ पुरुषों के वस्त्र, ४ बच्चों के वस्त्र, ५ किलो चावल तथा दाल, ५ किलो आटा, एक चादर, स्टील की एक एक थाली, गिलास, कटोरी, एक स्टोव, एक मोमबत्ती, २ माचिस का डिबियाँ।

(ब) उपरोक्त पैकेटों के अतिरिक्त टूना तथा आदिपुर (कन्दल से ६ कि.मी.दूर) की बस्तियों में रहनेवाले लगभग १००० परिवारों के बीच पैकेट वितरित किए गए, जिनमें निम्नलिखित वस्तुएँ थीं - १००० किलो गेहूँ तथा आटा, ५०० नए तथा पुराने वस्त्र, ६७० प्लास्टिक की बाल्टियाँ।

(५) १७ जून को सबेरे : जामनगर जिले के कल्याणपुर तथा खम्बालिया ग्रामों के निवासियों के लिए ८०० पैकेट भेजे गए, जिनमें से प्रत्येक में निम्न वस्तुएँ थीं - ३ साड़ियाँ, पुरुषों व बच्चों के कपड़े, ३ लीटर का मिट्टी के तेल का एक स्टोव, १० किलो आटा, ४ किलो चावल तथा दाल, १ माचिस, २ मोमबत्तियाँ, १ साबुन, १ चादर, १ प्लास्टिक-बाल्टी, स्टील की एक एक थाली, कटोरी तथा गिलास।

(६) १७ जून की सुबह : हमारे रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर केन्द्र के मार्फत लगभग १००० लोगों को भोजन कराया गया तथा ९१४ तूफान-पीड़ित परिवारों के बीच चावल, गेहूँ, वस्त्र, बर्तन आदि वितरित किये गये। उनकी झोपड़ियों की मरम्मत के लिए १२५ प्लास्टिक के शीट भी उपलब्ध कराये गये।